गुरुकुल-पत्रिका

शोध-पत्रिका

Monthly Research Magazine

श्रद्धानन्द अंक

सम्पादक

डॉ० भारतभूषण विद्यालंकार

वेदाचार्य, एम.ए., पी-एच.डी.

प्रोफेसर - वेद विभाग

एवं

निदेशक

श्रद्धानन्द वैदिक शोध एवं प्रकाशन संस्थान

उपसम्पादक

डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री 'धर्ममार्तण्ड'

वरिष्ठ प्रवक्ता, वेद विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार — 249404

अक्टूबर, नवम्बर, दिसम्बर	वर्ष	आश्विन-पौष (कृष्ण)
1997	48	2054

सम्पादक मण्डल

मुद्रक किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रैस, निकट गुरुकुल कागडी फार्मेसी, कनखल फोन 415975

विषय-सूची

श्रुति-सुधा

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि।।
(ऋग्वेद : 10.151.1)

(श्रद्धया अग्निः समिध्यते) श्रद्धा द्वारा मन की अग्नि प्रदीप्त होती है। (श्रद्धया हविः हूयते) श्रद्धा से ही जीवन यज्ञ में आहुति दी जाती है। (श्रद्धां भगस्य मूर्धनि) श्रद्धा से ही हम सौभाग्य शिखर पर पहुंचते हैं। यह सत्य वेदवाणी द्वारा अनुमोदित और प्रमाणित है- इसे जानो।

The sacred fire is kindled with sincere faith, the oblation is offered with the same intensity of faith. Likewise the soul is infused with intense devotion and actions are dedicated at the feet of God with the spirit of devotion. The whole life attains glory through devoted deeds. This fact is declared by divine scriptures.

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात् ।।
(ऋक्: 3.62.10, यजु0: 22.9, साम: 6.3.1)

हम(देवस्य सवितुः) अक्षय ज्योति के स्रोत प्रभु के (तत् वरेण्यं भर्गः) उस दिव्य प्रकाश को (धीमहि) ध्यान द्वारा धारण करें। (यः नः धियः प्रचोदयात्) जो प्रकाश हमारी धारणाओं को दिव्य बनाये, ज्योतिष्मान् बनाये।

O Supreme Lord !
Thou art ever existent,
Ever conscious, blissful.
We meditate on Thy most sublime glory.
Mayest Thou guide and inspire our intellect
On the path of highest divinity !
May we be able to discriminate
Between truth and falsehood.

-(वेद सौरभ, सत्यकाम विद्यालंकार, पृ० ७-८ से उद्धृत)

सम्पादकीयम्

भारत की राजधानी दिल्ली के चाँदनी चौक में स्थित, एक विशालकाय भव्य मूर्ति को देखकर सहसा ही उस लौह पुरुष की याद आ जाती है, जिसने गोरों की संगीनों के आगे अपना वक्षस्थल खोलकर कहा था- "यदि हिम्मत हो तो चला दो गोली, सन्यासी का सीना खुला है।" कैसा अनोखा व्यक्तित्व था वह न मरने की चिन्ता और न दैन्य से जीने की चाह। आकुलता से निहारती हुई जामा मस्जिद आज कह रही है कि संसार के इतिहास में केवल यह अनोखा व्यक्तित्व ही था जिसने किसी मस्जिद में जाकर पवित्र वेद मंत्रों का उच्चारण किया। राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं अपितु सामाजिक क्षेत्र में भी स्वामी श्रद्धानंद ने वह अनोखा कार्य किया, जिसके आगे आज सारा विश्व नतमस्तक है। प्राचीन आर्ष शिक्षा पद्धति के उद्धारक आचार्य दयानन्द के बताये मार्ग पर चलने वाले श्रद्धानंद ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने गुरुकुल पद्धति के शिक्षणालय की "उपह्वरे गिरीणां सगमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत" - के निर्देशानुसार, हिमालय की कन्दराओं में स्थापना की। यही नहीं, इस शिक्षणालय में सबसे पहले अपने ही बच्चों को प्रविष्ट किया।

स्वामी श्रद्धानंद इस बात को मानते थे कि संस्कृत का अध्ययनाध्यापन देश भक्ति का कार्य है। उनकी मान्यता था कि भारत की शिक्षा पद्धति सच्चे अर्थों में तभी राष्ट्रीय हो सकती है जब यहाँ के विद्यालयों में संस्कृत का अध्ययन हो। अंग्रेजी सरकार ने भारत में जिस शिक्षा प्रणाली को प्रचलित किया है वह देश भक्ति का विनाश कर रही है और उन्हें "मानसिक दास" बना रही है। आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा की एक ऐसी योजना तैयार की जाये, जो सच्चे अर्थों में "राष्ट्रीय" हो। स्वामी जी मानते थे कि विशाल संस्कृत साहित्य का आरम्भ बिन्दु वेद ही है अतएव गुरुकुल के विद्यार्थियों को वेदज्ञ बनाने के लिए वे पौराणिक विद्वानों को भी गुरुकुल में अध्यापनादि के लिए बुलाते थे।

यह स्वामी श्रद्धानंद का ही असाधारण व्यक्तित्व था जो कि गुरुकुल जैसी अतुलनीय संस्था के निर्माणानन्तर भी, उन्हें न केवल विद्यार्थियों से ही अपितु अपने आर्य समाजी भाईयों से भी इस शिक्षण संस्था के लिए विरोध का सामना करना पड़ा। ८ श्रावण, संवत् १९६५ (सन् १९०८) के "सद्धर्म प्रचारक" के अंक में वे स्वयं लिखते हैं- "ब्रह्मचर्याश्रम के उद्धार के लिए जिस दिन गुरुकुल की पाठविधि तथा उसके प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम हाथ में लेकर सेवकों ने काम करना प्रारम्भ किया था, उसी दिन

गुरुकुल पर वज्र प्रहार प्रारम्भ हो गये थे। अपनों और बेगानों, आर्यों और अनार्यों सभी प्रकार के पुरुषों ने उसको जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए नाना प्रकार के प्रयत्न किये। किन्तु जब गंगा तट पर पहुँचकर ब्रह्मचारियों के समूह ने इस जंगल को वेद मंत्रों की ध्वनि से गुंजाना शुरु किया तब से तो आक्रमणों की कुछ गिनती ही नहीं रही"।

महात्मा मुंशीराम के अथक परिश्रम से जिस गुरुकुल ने थोड़े ही दिनों में दिन-दूनी और रात चौगुनी उन्नति और ख्याति प्राप्त की, उस गुरुकुल को विदेशी भी देखने के लिए आने लगे। गुरुकुल के इन पाश्चात्य दर्शकों में श्री सी०एफ० एण्ड्रूज सबसे प्रमुख थे। सन् १९१३ ई० में, गुरुकुल को देखने पर मार्डन रिव्यू (कलकत्ता) में उन्होंने एक लेख में लिखा था- "जिस भारत को मैं जानता था जिस भारत से मैं प्रेम करता था जो भारत मेरे स्वप्नों में था वह मुझे यहाँ देखने को मिला। मैंने अपने सम्मुख उस मातृभूमि को देखा जो न शोकातुर थी और न श्रान्त न क्लान्त, जिसमें अनन्त अनश्वर यौवन था जो बसन्त के समान ताजा व नवयौवना थी। यहाँ गुरुकुल में यह नवभारत विद्यमान था।"

स्वयं महात्मा गाँधी ने एक बार बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय के उत्सव से लौटने पर, मदनमोहनमालवीय को पत्र में लिखा था- "अगर स्वामी श्रद्धानंद हरिद्वार में गंगा के पावन तट पर बैठकर छात्रों को भारतीय सभ्यता का पानी पिला सकते हैं तो, आप वाराणसी के अन्दर उसी गंगा के किनारे बैठकर व्यर्थ में ही टेम्स नदी का जल क्यों पिला रहे हो ?"

स्वामी श्रद्धानंद ने हिन्दी-साहित्य क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। आत्मकथा-लेखकों में स्वामी जी का ही नाम सबसे प्रथम लिया जाता है। "कल्याण मार्ग का पथिक" स्वामी जी की वह आत्मकथा है जिसमें उन्होंने निःसंकोच अपना वृतान्त लिखा है- चाहे वह उनका उज्ज्वल पक्ष हो या अनुज्ज्वल। यही महापुरुषों की पहचान है।

महात्मा मुंशीराम देश के लिए ही जिये और उसके खातिर ही मरे। उनका बलिदान आज हमको प्रेरणा दे रहा है कि- हे भारत के कर्णधारों ! इस चमन को तुम बर्बाद न होने देना यह पौधा मुरझाये नहीं यह फल और फूलों से सदा आबाद रहे यदि इसके ऊपर कभी विपत्ति के बादल मँडराये तो उसको सहर्ष, चाहे प्राणों की आहुति ही क्यों न देनी पड़े, हटा देना। उस महान् मनीषी, भारत के नवनिर्माता को डॉ० सत्यव्रत 'अजेय' के निम्न शब्दों में श्रद्धांजलि देता हूँ-

"इस मुल्क के चमन को, है चश्मेतर से सींचा।
हल्मोहुनर से सींचा, कभी मालोज़र से सींचा।।
"श्रद्धा" बयाँ करें क्या, कुर्बानियाँ तुम्हारी।
जब वक्त आ पड़ा तो, ख़ूनेजिगर से सींचा।।

– 'दिनेशचन्द्र शास्त्री'

मेरे कुछ असिद्ध स्वप्न

-स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती

स्वप्नावस्था में ही जागृत की सारी तैयारी होती है। इसी अवस्था में योगी परमात्मा की सृष्टि का सौन्दर्य देखना आरम्भ करता है और उसी दशा में साधारण पुरुष का मन कर्म-काण्ड की तैयारी करता है।

गुरुकुल के लिये जिस दिन धन एकत्र करने के लिये मैं घर से निकला था (१२ भादों १९५६ वि. तद्नुसार २६ अगस्त १८९९) उसी दिन रेलगाड़ी में बैठते ही कुछ विशेष कल्पनाएँ, गुरुकुल सम्बन्धी कार्यक्रम की मैंने कर ली थीं। फिर जब कार्तिक सम्वत् १९५८ में मुझे आर्य-प्रतिनिधि सभा पंजाब की ओर से आज्ञा मिली कि शीघ्र कांगड़ी ग्राम में कुछ अस्थिर मकान बनवा गंगातट पर गुरुकुल खोल दिया जाये, तब भी २२ फाल्गुन १९५८ की शाम तक गुरुकुल भूमि में पहुँचने से पहिले मेरे मन में बहुत से संकल्प उठे थे। उस समय से सब संकल्प स्वप्नवत् ही थे। उनमें से कुछ तो जागृत में परिणत हो आशा से बढ़कर पूरे हुये कुछ असिद्ध रहकर अब भी स्वप्नावस्था में ही पड़े हुये हैं। स्वप्नावस्था में पड़े हुये असिद्ध संकल्पों का वर्णन इसलिये कर देता हूँ कि शायद कोई उन्हें सिद्ध करने वाला कर्मवीर निकल आवे और अपने व्यक्तित्व के प्रतिकूल अवस्थाओं के कारण जो मैं न कर सकता, उसमें वह कृतकार्य हो जावे।

प्रथम आर्थिक दशा सम्बन्धी कुछ स्वप्न थे जो पूरे न हो सके। आरम्भ में मेरा विचार यह था कि ५० लाख रुपयों का स्थिर कोष जमा करके उसकें सूद से ही गुरुकुल का काम चलाया जावे। परन्तु ब्रह्मचारियों को कांगड़ी में ले जाते ही ऐसा चौमुखी युद्ध करना पड़ा कि धन एकत्र करने के लिये बाहर जाना मेरे लिये कठिन हो गया और जिनका इस संस्था को चलाना कर्तव्य था उनमें बहुत से उसको तोड़ने के लिये ही कमर बाँध बैठे। तब धन कौन लाता ? फिर शनैः-शनैः यह भाव स्थिर हुआ कि रुपयों के स्थिर कोष के स्थान में आमदनी का स्थिर यत्न किया जाये, जिससे यह शिक्षणालय आर्थिक दृष्टि से अपने पैरों पर खड़ा हो सके। इसके लिये मैंने नीचे लिखे साधन सोचे थे-

(क) एक वर्कशॉप (कारखाना) खोला जाये जिसमें एंजन लगा कर कई प्रकार के व्यवसाय का काम हो। कांगड़ी ग्राम और उसके आस-पास के जंगल में खैर के वृक्ष बहुत हैं। एक कारखाना कत्था बनाने का खोला जाये। अपने जंगल में ढाक के वृक्ष

बहुत हैं उनसे लाख पैदा की जाये, और उन्हीं के फूलों (टेसू) से रँग बनाया जाये। सेंभल की रूई इकट्ठी करके बेची जाये। पास के जंगल से शीशम और तुनु की लकड़ी सस्ती मिल सकती है। उन लकड़ियों से मेज कुर्सी आदि सामान बनवा कर बेचा जाये। इनके अतिरिक्त और भी व्यवसाय कार्य जारी हो सकते थे। स्वामिनी सभा के अधिकारियों से जब बातचीत की तो उन्होंने विरोध ही किया। शिवालिक की पड़ोसी पहाड़ियों पर औषधियाँ बहुत होती हैं और बिना मूल्य मिल सकती हैं। वैद्य के आने पर सभा से आज्ञा चाही गई कि चरक, सुश्रुत में दिये नुस्खों के अनुसार औषधियाँ बनाकर वैद्यों के हाथ बेचने की आज्ञा दीजिये। हुकुम हुआ कि ना मंजूर।

अब सभा ने ऐसी बेरुखी दिखाई तो मैंने एक धनाढ्य पुरुष को व्यवसाय के कामों के लिये धन देने को तैयार कर लिया। धामपुर के रईस रायबहादुर चौधरी रणजीत सिंह जी गुरुकुल देखने आये। कारखाने की बातचीत आते ही उन्होंने मुझसे पूछा कि पूरा कारखाना बनाने के लिये क्या व्यय होगा। मैंने एक लाख का अनुमान बतलाया। उक्त महोदय ने प्रतिज्ञा की कि ५० हजार रुपये वह देंगे, शेष धन इकट्ठा करने का मैं यत्न करूँ। परन्तु जहाँ घर में कलह हो और उल्टी माला फेरी जाती हो वहाँ बाहर से क्या सहायता मिल सकती है। श्रीमान् चौधरी रणजीत सिंह जी गुरुकुल से घर लौटकर दस पन्द्रह दिनों के अन्दर ही अचानक मृत्यु के ग्रास हुये। यह विचार दिल का दिल में ही रह गया। यदि वह स्वप्न जागृत में परिवर्तित होता तो जहाँ एक ओर गुरुकुल चलाने के लिये स्थिर आय होती, वहाँ ब्रह्मचारियों के आर्थिक भविष्य का प्रश्न भी शायद किसी हद तक हल हो जाता।

(ख) कांगड़ी ग्राम की भूमि १२०० पक्के बीघों के लगभग है। उनमें से केवल अनुमानतः १७५ बीघे में खेती होती है। ३२५ बीघे के लगभग में नाला आदि हैं। १०० बीघे भूमि गुरुकुल की इमारतों के नीचे होगी। शेष ६०० बीघे में से ४०० बीघे की नौतोड़ किया जा सकता है। मैंने कृषि विभाग इसीलिये खोला था कि उस विभाग के ब्रह्मचारी तो कृषि का सारा काम सीखेंगे परन्तु जो काम (नलाई, कटाई, जुताई इत्यादि) केवल मजदूरी सम्बन्धी होंगे वह गुरुकुल के अन्य ब्रह्मचारियों से, उनके खाली समय में, कराया जायेगा। पैदावार बढ़ाने के लिये ग्राम में एक कूप लगवाया था। विचार था कि दानियों को प्रेरित करके दस बारह कूप लगवा कर खेती की पैदावार बढ़ाई जावे। मेरा अनुमान था कि यदि ४०० बीघे और नौतोड़ हो जाये तो वर्ष भर में से भी महीनों के लिये अनाज यहीं से निकल आया करेगा। ब्रह्मचारियों में जोश भी पैदा कर दिया गया

था। कृषि विभाग से विभिन्न ब्रह्मचारी भी आश्रम की वाटिकादि में काम करने लग गये थे। परन्तु प्रबन्धकर्ता सभा के अधिकारियों की असहानुभूति के कारण यह काम भी न चल सका।

(ग) एक बार ब्रह्मचारियों में यह उत्साह हुआ कि इमारत का काम वे स्वयं (मिस्तरी की सहायता से) कर लिया करें। एक कमरे की तैयारी में बहुत कुछ काम उन्होंने किया भी, परन्तु उनके मार्ग में इतने विघ्न डाले गये और इतना निरुत्साहित किया गया कि उनका जोश ठण्डा पड़ गया और फिर उन्हें इस काम के लिये किसी ने उत्साहित नहीं किया।

(घ) कांगड़ी ग्राम के जंगल से एक वर्ष ईंटों के भट्टे के लिये लकड़ियाँ कटवाई गई। उस वर्ष जंगल की आमदनी तीन हजार से बढ़ गई। मैंने बजट में वह रकम ग्राम की उन्नति के लिये स्वीकार करवाई। साथ ही उपाध्यायों तथा अध्यापकों के लिये निवास स्थान उसी भूमि में बनवाने का विचार किया, जहाँ नया आदर्श ग्राम बनाया जाना था। मैं कई कारणों से गुरुकुल से अलग जा बैठा। मेरे उत्तराधिकारियों ने जहाँ उपाध्याय गृह गुरुकुल के समीप बना लिये, वहाँ ग्राम के लिये स्वीकार की हुई रकम बिना व्यय हुई ही, वर्ष के अन्त में, लैप्स हो गई और उसकी पुनः स्वीकृति न मिली। यदि कृषिकारों के जीवन का सुधार हो जाता तो पैदावार बहुत बढ़ जाती और गुरुकुल का यश भी अधिक विस्तृत होता। एक बार फिर विचार उठा कि स्थिर धन-राशि को जमीन पर लगाना चाहिये। पचास हजार में एक ग्राम बिकता था। उनका नकदी लगान इतना वसूल होता था कि ४० पैसे सैकड़ा मासिक का सूद फैल जाता। नगर का पानी लगता था। यदि उन्नति की जाती तो पैदावार और बढ़ सकती थी। कुछ एक आर्य पुरुषों का पालन भी हो सकता था। परन्तु इस विषय को सभा में पेश करने से ही अधिकारियों ने इंकार कर दिया। गुरुकुल को तो ५० हजार में ही ग्राम मिलता था। पीछे उसका मूल्य ६० हजार से भी बढ़ गया।

इन सब प्रस्तावों का उत्तर अधिकारियों की ओर से यही था कि यदि इन कामों की आज्ञा लाहौर से दे दी गई तो साधारण सभासद् यह समझेंगे कि सारी शक्ति कांगड़ी को जा रही है मुझे कहा जाता था कि मेरी बदनामी इस प्रकार की जायेगी कि जो थोड़ी बहुत सेवा धन या तन से मैंने की है उसके बदले मैं अपनी शक्ति बढ़ाना चाहता हूँ। अब यतः ऐसा आक्षेप नहीं हो सकता इसलिये वर्तमान कार्यकर्त्ताओं को आय बढ़ाने के

लिये उपरोक्त साधनों को प्रयोग में लाने का यत्न करना चाहिये, यदि वे उसे उचित समझें।

दूसरे ब्रह्मचारियों के शारीरिक स्वास्थ्य तथा उन्नति सम्बन्धी कुछ विचार थे जो स्वप्नावस्था में ही विलीन हो गये। गतकर, फरी, घुड़सवारी और अन्य देशी खेलों का शिक्षक अर्जुन सिंह बहुत उत्तम मिला था। कई कारणों से वह अलग किया गया। कई ड्रिल मास्टर आये और चले गये। अन्त में चैत्र, १६७३ को सरदार फतेहसिंह को रखा गया जो दिल से काम कर रहे हैं। खेलों में तो ब्रह्मचारी अनुराग से सम्मिलित होते हैं और उससे उनकी शारीरिक दशा औरों की अपेक्षा बहुत उत्तम रहती है, परन्तु प्रातःकाल का, नसों को संगठित करने तथा शरीर को दृढ़ करने वाला, व्यायाम ठीक प्रकार नहीं होता। मुझे आशा थी कि शनैः-शनैः गुरुकुल के स्नातक ही अध्यापन के काम में लग जायेंगे और व्यायाम के स्वयं अभ्यासी ब्रह्मचारियों के प्रातःकाल के व्यायाम को ठीक कर देंगे। परन्तु न तो गुरुकुल और उसकी शाखाओं में पढ़ाने के लिये अधिकतर गुरुकुल के स्नातक ही मिले और न ही अन्य सब अध्यापक ऐसे आये जो स्वयं भी व्यायाम के प्रेमी हों।

(क) जिस प्रकार पहिले कुछ वर्षों के अध्यापक स्वयं खूब व्यायाम करते थे और अब भी कोई-कोई ऐसा करते हैं, इसी प्रकार इस समय की सर्वशाखाओं तथा मुख्य गुरुकुल के अध्यापक और उपाध्याय स्वयं व्यायाम को अत्यन्त आवश्यक समझ कर ब्रह्मचारियों के साथ व्यायाम किया करें, तब मेरा स्वप्न फलीभूत होगा।

(ख) शारीरिक शिक्षा तथा शरीर रक्षा और उन्नति के सम्बन्ध में बड़ा विचार मैं यह लेकर गुरुकुल में आया था कि रात की पढ़ाई विद्यार्थियों को न करनी पड़े। परमेश्वर ने दिन, शरीर और इन्द्रियों से काम लेने को बनाया है और रात इन सबको आराम देने के लिये। यदि अध्यापक ऐसे मिलें जो दिन की पढ़ाई के समय ही विद्यार्थी को सब कुछ उपस्थित करा दें तो रात में पढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती और दिन के अन्य समयों में मानसिक परिश्रम का कोई प्रयोजन नहीं रहता। तब आँखों और दिमाग को कमजोरी की शिकायत भी नहीं हो सकती। आरम्भ में दो वर्ष तक तो कुछ यह क्रम चला, शायद इसलिये कि उस समय सर्व नियत विषयों की पढ़ाई का प्रबन्ध न था, परन्तु आगे चलकर जब बड़े-बड़े अध्यापक और प्रोफेसर जमा हो गये तो जितना परिश्रम मैं इस आदर्श को ले जाने में करता उतनी ही रात को पढ़ाई अधिक हो जाती।

शायद इसमें मेरी ही भूल हो, परन्तु यदि गुरुकुल के संचालकों को मेरे प्रस्ताव में कुछ सार दिखाई दे तो आशा है कि वे इस ओर फिर ध्यान देंगे।

तीसरी कुछ कल्पनायें मानसिक शिक्षा सम्बन्धी थीं। उनमें से बड़ी कमी उचित पाठ्यपुस्तकों की है। आज कल के सभ्यताभिमानी देशों की युनिवर्सिटियों के पास अपना प्रेस होना अत्यन्तावश्यक समझा जाता है। गुरुकुल की शिक्षाप्रणाली (इस युग के लिये) नई, उसका पाठ्यक्रम नया, उसकी उमंगें नई फिर पुस्तकों का संशोधन तथा निर्माण इस शिक्षणालय का एक मुख्य अंग होना चाहिये था। यही सोचकर मैंने गुरुकुल के अर्पण सद्धर्म-प्रचारक प्रेस का सारा सामान कर दिया था। इसी आवश्यकता को लक्ष्य में रखकर गुरुकुल कोष से सहस्रों रुपये व्यय करके प्रिन्टिंग मशीन, ईन्जन तथा टाइप का विस्तृत सामान भी मंगाया था। आधुनिक संस्कृत साहित्य की पाठ्य-पुस्तकों में से अश्लील तथा अनुचित भाग निकाल कर पुस्तकें तैयार की गईं, वैदिक मैगजीन आदि की सारी अपनी छपाई गुरुकुल में होने लगी; गुरुकुल का यन्त्रालय इन प्रान्तों में केवल इण्डियन प्रेस, प्रयाग, से दूसरे दर्जे पर पहुँच गया था, पर अकस्मात् प्रेस-भवन में आग लग गई और दस बारह हजार का सामान जल कर राख हो गया। प्रेस के जलने के साथ पाठ्यपुस्तकें छपवाने का प्रश्न भी फिर खटाई में पड़ गया। फिर प्रेस दिल्ली में गया, उसका बड़ा भाग ६५०० रूपये में बेचा गया, और कुछ हैन्डप्रेस और कटिंग मशीन आदि बचाकर फिर से गुरुकुल प्रेस की बुनियाद पड़ी। उसके पश्चात् दो बार मैंने सभा से कुछ स्वीकृति प्रेस को बढ़ाने के लिये माँगी, परन्तु मुख्य अधिकारियों के कटाक्ष पर कि मैंने सहस्रों रुपये प्रेस में बरबाद करा दिये हैं, मैं अपने प्रस्ताव पर जोर नहीं देता रहा।

प्रेस का कार्य बढ़ाने से बहुत से अन्य लाभ भी हैं, इसलिये जब वर्तमान मुख्याधिष्ठाता जी की कार्यकुशलता तथा धन रक्षा की योग्यता पर पूरा भरोसा है तो आशा है कि सभा उनको आठ हजार रुपया व्यय करके प्रेस को बढ़ाने की आज्ञा देगी।

गुरुकुल विश्वविद्यालय और उसकी शाखाओं के लिये उत्तम साहित्य मुद्रित करना तो गुरुकुल यन्त्रालय को विस्तृत करने का फल होगा ही किन्तु उसके साथ ही उससे स्थिर आय भी खासी हो जायेगी।

(ख) गुरुकुल के स्नातकों के लिये आजीविका का प्रबन्ध करने के विचार से ही नहीं, प्रत्युत उनको जाति और राष्ट्र के लिये अधिक से अधिक फलदायक बनाने के लिये,

गुरुकुल की आरम्भिक शिक्षाप्रणाली में ही आयुर्वेद, कृषि और व्यापार शिक्षा का ध्यान रखा गया था। कब से मैं इन विषयों के लिये बल देता रहा हूँ और किस प्रकार की रुकावटें उस प्रयत्न के मार्ग में खड़ी होती रही हैं - इस कहानी से यहाँ कुछ लाभ न होगा। मैंने कृषि शिक्षा का कार्य आरम्भ भी किया परन्तु कई कारणों से उसमें अब तक वह कृतकार्यता प्राप्त न हुई जो सहज में ही हो सकती थी। मेरे सामने तो कृषि विभाग का जीवन ही सन्दिग्ध था, परन्तु अब फिर कृषि विभाग को योग्य उपाध्याय मिल गये हैं। यदि इस विभाग को तोड़ने का प्रयत्न न हुआ तो जहाँ ब्रह्मचारियों को कार्यशील बनाने में सहायता मिलेगी, वहाँ कुछ वर्षों के पीछे इससे आय भी अच्छी होने लग जायेगी।

फिर आयुर्वेद के लिये भी कुछ वर्षों से मैंने प्रस्ताव कर रखा था। जिस वर्ष गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर कविराज योगेन्द्रनाथ सेन एम.ए. आये थे, उसी वर्ष बहुत से धन की भी, आयुर्वेद विभाग खोलने के लिये, प्रतिज्ञायें हुई थीं कुछ धन वसूल भी हुआ था, और योग्य वैद्य भी मंगा लिये गये थे। परन्तु शासक सभा के अधिकारियों ने उस विभाग को खुलवाना उचित न समझा। मेरा निश्चय है कि यदि आयुर्वेद विभाग के साथ ही, एक योग्य डाक्टर रख कर अनाटमी, सर्जरी आदि की शिक्षा का भी प्रबन्ध कर दिया जाता तो शायद इस समय तक गुरुकुल के स्कूल ऑफ मेडिसिन को गवर्नमेन्ट का चिकित्सा विभाग प्रमाणित भी कर देता। अब बड़ी प्रसन्नता की बात है कि आयुर्वेद विभाग को खोलने का प्रस्ताव गुरुकुल की शासक सभा में स्वीकार कर लिया है और यदि इस समय कोई योग्य डाक्टर भी अपनी सेवा गुरुकुल को अर्पण कर दे तो आशा है कि जहाँ गुरुकुल के स्नातक कलकत्ता, मद्रास आदि भटकते फिरने से बच जायेंगे वहां बाहर के विद्यार्थी भी इस विभाग से पूरा लाभ उठा सकेंगे।

यह भी सुनने में आया है कि व्यापार तथा महाजनी की शिक्षा के लिये भी पाठविधि तैयार हो रही है। परमेश्वर शासक सभा को बल प्रदान करें जिससे अधिकारीगण इन कार्यों के चलाने में आलस्य न कर सकें।

आत्मिक शिक्षा सम्बन्धी जो दिव्य स्वप्न देखकर मैं गुरुकुल में गया था, उसका निरन्तर १६ वर्षों तक काम करते हुये, स्मरण नहीं आता था। उनके संस्कार तो प्रबन्ध के द्वन्द युद्ध से मुक्त होने पर ही पुनः जागे हैं। गुरुकुल भूमि में पग धरा था यह दृढ़ प्रतिज्ञा करके कि सात वर्षों तक वेदांगों में परिश्रम कर तथा आत्मिक

साधनों द्वारा बल प्राप्त करके ऋषि दयानन्द की बतलाई प्रणाली पर वेदाध्ययन में ब्रह्मचारियों की स्वयं सहायता करूँगा और तब आचार्य कहलाने का अधिकारी बनूँगा। गया था अभ्यासी बनने और आत्मिक शक्तियाँ सम्पादन करने, परन्तु गुरुकुल भूमि में प्रवेश करते ही घोर संग्राम में फँसना पड़ा। जहाँ प्रकृति प्रत्येक प्रकार से अनुकूल थी, जहाँ वेदाज्ञा के अनुकूल हिमालय के पवित्र चरणों में जाह्नवी के किनारे डेरा डालकर आशा थी कि ब्रह्मचर्याश्रम के बड़े बोझ को उठाने के लिये बल मिलेगा, वहां मानवी हृदयों की उठाई अशान्ति ने पूर्व के साधनों से प्राप्त बल को भी शिथिल करने के लिये आक्रमण कर दिये। इस विषय में मनुष्यों के प्रति, वाणी या लेखनी द्वारा, कुछ बतलाया नहीं जा सका। जो कल्पनाओं का मनोहर तथा शान्तिप्रद उद्यान हृदय भूमि पर बनाया था वह अब स्मरण में आ रहा है। आत्मिक अवस्था को उच्चासन पर ले जाने और वैदिक ज्ञान को क्रियात्मक बनाने का अवसर, परमेश्वर की कृपा से, अब मिलेगा और इस जन्म की तैयारी आगामी जन्म में अवश्य काम आवेगी। इस आशा पर ही मैं काम कर रहा हूँ। **परन्तु अपनी मृत्यु के पहिले यदि एक बार यह दृश्य देख लूँ कि गुरुकुल विश्वविद्यालय के आचार्य पद पर एक ऐसे विद्वान् स्थित हैं जो वेद ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञान को आचरणों में डालते हुये ब्रह्मचारियों को मनुष्य के परम पुरुषार्थ की ओर ले जा रहे हैं, तो मैं बड़े सन्तोष से आने वाले जन्म की तैयारी कर सकूँगा।**

ब्रह्मचारियों की आत्माओं पर निःस्वार्थ भाव को भलि प्रकार अंकित करने तथा उन्हें धर्म और जाति सेवा के लिये तैयार करने का बड़ा भारी साधन यह समझा गया था कि उनके संरक्षकों पर उनकी पढ़ाई एवं उनके पालन-पोषण का कुछ भी बोझ न पड़े। गुरुकुल की आरम्भिक शिक्षा-विधि की तैयारी के समय से ही मैं इस पर बल देता रहा और इसीलिये नियम धारा ६ के नीचे नोट दिया गया था- 'जब कुछ समय में पर्याप्त धन एकत्रित हो जायेगा तो समस्त ब्रह्मचारियों का शिक्षा-दान तथा उनका पालन पोषण बिना किसी व्यय लिये किया जायेगा।' मैंने बहुत बार हाथ-पाँव मारे कि पर्याप्त धन (५० लाख रूपये) जमा हो जावे, परन्तु उसके लिये परिश्रम करने का मुझे समय और अवसर ही न मिला। फिर जब संवत् १९६७ में कई कारणों से मैं मुख्याधिष्ठाता तथा आचार्य पद से त्याग-पत्र देकर अलग हुआ तो कुछ सज्जन मित्रों ने मेरी हार्दिक इच्छा को जानकर सर्वथा शुल्क मोचन पर बल दिया और उनका प्रस्ताव स्वीकृत भी हो गया। फिर जब मुझे पुनः गुरुकुल की सेवा के लिये लौट आने के लिये

बाधित किया गया तो शुल्क लगाने का प्रश्न फिर उठ खड़ा हुआ। उस वर्ष तो पुराने प्रस्ताव को ही सभा से दृढ़ता मिली, परन्तु उससे दूसरे वर्ष इस प्रश्न को फिर सभा में रखा गया। यह देखकर कि कुछ काम करने वाले बिना गुरुकुल के ब्रह्मचारियों पर शुल्क लगवायें काम करना छोड़ देंगे, मैंने उस अधिवेशन में सम्मिलित होने से ही बचना चाहा, परन्तु शुल्क के पक्षपातियों की ओर से श्री प्रधान जी ने विश्वास दिलाया कि आठ श्रेणियों तक कोई शुल्क लगाने का विचार नहीं; उससे ऊपर शुल्क लगाने का निश्चय है। मैं तो इस समझौते पर चुप रहा परन्तु प्रस्तावकर्ताओं ने पूर्ववत् सब श्रेणियों के लिये शुल्क स्वीकार कर लिया। मैंने अपनी निज प्रतिज्ञानुसार मौन धारण किये रखा और सम्मति भी कुछ न दी।

इस समय बिना शुल्क के गुरुकुलों को चलाना असम्भव सा ही हो गया है। क्योंकि जहाँ प्रबन्ध उत्तम है और अपने कर्तव्य को समझने वाले संचालक हैं वहाँ धन पर्याप्त नहीं, और जहाँ शुल्क न लेने का आडम्बर रचा जाता है वहाँ ब्रह्मचारी तो साधारण भोजनों के लिये भी तरसते हैं और गुरुकुल भक्त सांसारिक भोगों का आनन्द लूटते हैं। मेरा यह स्वप्न भी इस जीवन में पूरा होता नहीं दीखता।

गुरुकुल के सम्बन्ध में मेरी एक और प्रबल इच्छा थी जो अपूर्ण रह गई। मेरा विचार था कि प्रत्येक नगर के पास और प्रत्येक पाँच ग्रामों के समूह के मध्य स्थान में प्रारम्भिक शिक्षा के लिये पाठशालाएँ खोल दी जायें, जिनमें बालक गुरुकुल के लिये तैयार किये जायें। चार वर्ष की पाठविधि हो। जनता की सभाएँ बना कर अनिवार्य शिक्षा का प्रचार किया जाये, जिससे उस और का कोई भी बच्चा (लड़की हो या लड़का) अशिक्षित न रह जाये। गुरुकुलों के सम्बन्ध में तो कई कारणों से मैं इस विचार को असली सूरत न दे सका, परन्तु यह प्रबल इच्छा अवश्य है कि आर्यसमाज का इतिहास समाप्त करके, धर्म प्रचार करता हुआ, आर्यभाषा पाठशालाएँ खुलवाने का यत्न करता रहूँ। उन पाठशालाओं में साधारण ज्ञान देने के अतिरिक्त प्रत्येक आर्य बालक और बालिका को वैदिक-धर्म का आवश्यक ज्ञान भी कराया जावे। इस काम के लिये ऐसे धर्मवीरों की आवश्यकता होगी जो वर्तमान समय के अनुचित भोगों को तिलांजली देकर तप का जीवन व्यतीत करने के लिये तैयार हों। स्वर्गीय महात्मा गोपालकृष्ण गोखले को इस काम के लिये उत्तेजित करने का मैंने प्रयत्न किया था, परन्तु वे कई बार इच्छा प्रकट करके भी मेरी प्रार्थनानुसार एक सप्ताह गुरुकुल में निवास न कर सके और इसलिये हमारी स्कीम पक न सकी।

गुरुकुल सम्बन्धी और भी बहुत सी मेरी आकांक्षाएँ थीं जो पूरी नहीं हुई, उनके वर्णन से इस समय लेख को बढ़ाना उचित नहीं है। मैंने इन सब असिद्ध स्वप्नों में असफलता का कारण यही समझा था कि गुरुकुल का प्रबन्ध एक ऐसी कार्यकारिणी सभा के अधीन है जिसके सभासदों का गुरुकुल के साथ सीधा सम्बन्ध बहुत कम रहता है। प्रथम तो आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा में सभासद लिये ही किसी अन्य भाव से जाते हैं, फिर बहुत से गुरुकुल के सच्चे हितैषी (अधिक दान देने वाले, स्नातक, ब्रह्मचारियों के संरक्षक तथा अन्य विद्वान्) इसके नियन्त्रण में भाग नहीं ले सकते और सबसे बढ़कर कमी यह है कि शासक सभा में बैंठकें गुरुकुल से दूर होने के कारण उसकी आवश्यकताओं को सभासद दृष्टि में नहीं रख सकते। मैंने गुरुकुल की भलाई इसी में समझी थी कि उसके लिये एक पृथक् नियन्त्रण परिषद् बनाई जावे जिसमें दानियों, स्नातकों तथा अन्य गुरुकुल प्रेमियों के प्रतिनिधि भी लिये जा सकें। मैंने ऐसा प्रस्ताव दस, ग्यारह वर्षों से कर रखा है। परन्तु ऐसा नियम-संशोधन का प्रस्ताव आर्य प्रतिनिधि सभा के उस अधिवेशन में पेश हो सकता है जिसमें सभासदों की उपस्थिति दो तिहाई से कम न हो। एक बार उपस्थिति (कोरम) ठीक हो गई और बहुपक्ष अनुकूल भी था, परन्तु सम्मति लेना दूसरे दिन पर रोका गया और दूसरे दिन कोरम न रहा।

सारा सभ्य संसार इस समय अनुभव कर रहा है कि शिक्षा प्रणाली पर ही संसार की वर्तमान अशान्ति की औषधि आर्यपुरुषों ने समझ रखी है। बाह्य संसार के कुछ शिक्षक भी इस विषय में आर्यों के साथ सहमत हो चुके हैं। तब गुरुकुल की रक्षा और उन्नति के लिये जो भी उपाय उचित हों उनसे आर्य जनता को उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। इसीलिये मैंने आर्यजनता की सेवा में अपने उद्गार उपस्थित करने का यत्न किया है।

'स्वामी श्रद्धानन्द एक विलक्षण
व्यक्तित्व" - से साभार

उदार श्रद्धानन्द

स्व0 आचार्य अभयदेव

स्वामी श्रद्धानन्द जी के जीवन की सम्पूर्ण विशेषता को मैं जिस एक विशेषण से कह सकता हूं, वह है 'उदार' उदार श्रद्धानन्द पुकार लेने से उनका सारा जीवन, उनके जीवन की एक-एक महान् घटना आंखों के सामने चित्रित हो जाती है। स्वामी जी के जिन दोषों की तरफ लोग इशारा करते हैं वे भी उनमें उदारता की ही अति के कारण थे। पर इसे भाग्यचक्र के सिवाय और क्या कहूं- बदकिस्मती के सिवाय और क्या पुकारूं कि उनके जीवन के अन्तिम दिन- वे शुद्धि और संगठन के दिन- ऐसे बीते हैं कि बहुत से लोगों के (और ऐसे अनजान लोग आम जनता में बहुत हैं) दिलों में श्रद्धानन्द का सम्बन्ध अनुदारता, संकुचित साम्प्रदायिकता के साथ जुड़ गया है। उन द्वारा जगत् प्रसिद्ध गुरुकुल की स्थापना, उन द्वारा आर्य समाज का शानदार नेतृत्व, सन्यासी बनकर उनका मनुष्यमात्र की सेवा में लग जाना आदि सम्पूर्ण जीवन को लोग भूल जाते हैं और अन्तिम बलिदान के कारण उन्हें एक शुद्धि संगठन के नेता के तौर पर याद रख रहे हैं। पर आम लोग तो यह भी नहीं जानते कि संगठन के विषय में और शुद्धि के विषय में स्वामी जी के विचार कितने उदार थे। यह उनके नजदीक रहने वाले ही जानते हैं कि उनके संगठन और शुद्धि के विचार उनसे बहुत भिन्न थे जो कि उस समय की जहर के विचार थे या जो कि कट्टर लोगों के विचार थे। उनका उदार हृदय तो संकुचित ढंग से विचार ही नहीं सकता था।

उन्हीं शुद्धि-संगठन के दिनों की बात है कि एक बार मैं रात्री के नौ बजे देहली में स्वामी जी के स्थान पर पहुंचा तो देखा कि स्वामी जी ने अपने रहने के स्थान पर दीपावली जगा रखी है। जरा एक काम से शहर में गया तो वहां एक और बड़ा मकान दीवाली के दीपकों से जगमगाता हुआ दीखा। पूछने पर पता चला वह मस्जिद थी। उस दिन (तारिख याद नहीं) टर्की के कमाल पाशा का एक विजय का दिन मनाया जा रहा था और सारे देहली शहर में या तो मस्जिदों में दीवाली मनाई गई थी या स्वामी श्रद्धानन्द जी के निवास पर (उसी श्रद्धानन्द बलिदान भवन पर जिसमें उनका बलिदान हुआ था।) एक प्रतिष्ठित साथी ने हंसी उड़ाते हुस स्वामी जी से पूछा भी कि 'स्वामी जी ? आपने यह क्या कर रखा है।, स्वामी जी ने जवाब में गम्भीरता से यह आशय प्रकट किया- "हमें मुसलमानों से या उनके धर्म से जरा भी द्वेष नहीं होना चाहिए कमाल पाशा की विजय न्याय की विजय है, अतः यही हमारी भी विजय है।"

जिन सिख भाइयों (तत्खालसों) ने एक समय स्वामी जी के विरुद्ध बड़ा आन्दोलन उठा रखा था, उन्हीं के लिये कुछ दिनों बाद, हम देखते हैं कि स्वामी जी ने अपनी साठ वर्ष की उमर में जेल काटी। उनके जीवन भर में यह रहा है कि वे मौका पड़ते ही दिखला देते थे कि विरोध रखते हुए भी उनके विशाल हृदय में किसी के प्रति भी दुश्मनी का क्षुद्र भाव नहीं ठहर सकता था।

गांधी जी ने स्वामी जी के जीवन पर लिखते हुए लिखा था कि "यदि मैं उन्हें कुछ भी जानता हूं तो कह सकता हूँ कि प्राण छोड़ते समय स्वामी जी के मन में अपने हत्यारे के विषय में यह विचार आया होगा कि परमेश्वर उस नादान को क्षमा करें"

स्वामी जी इतनी जल्दी करुणार्द्र हो जाते थे- इतनी जल्दी क्षमा कर दिया करते थे कि गुरुकुल में उनके सहयोगी उनकी इस आदत के कारण दिक थे और समझते थे कि उनकी इस आदत से गुरुकुल को नुकसान पहुंचता है। गुरुकुल के सहयोगियों की यह शिकायत भी ठीक थी कि स्वामी जी पैसा खर्च करने में भी अति उदार थे। परन्तु इस तरफ अधिक ध्यान इसलिए नहीं खिंचता था कि स्वामी जी के इस उदारता के कारण ही पैसा उन्हें मिलता बहुत था।

स्वामी जी का आर्य समाज पर कैसा प्रभाव था ? इस विषय में मुझे एक पंजाबी प्रतिष्ठित आर्य समाजी मित्र के हाल में बातचीत में कहे शब्द बहुत ठीक लगे। उन्होंने कहा कि कालेज-पार्टी की अपेक्षा गुरुकुल-पार्टी में जो एक स्पष्ट सुधार में आगे बढ़ने की प्रवृत्ति और उदारता दिखाई देती हैं, यह स्वामी श्रद्धानन्द जी के महान् नेतृत्व से आई है और स्वामी जी के उठ जाने से अब गुरुकुल पार्टी में भी संकीर्णता के चिह्न दिखाई देने लगे हैं इस समय संकीर्णता से हमें ऊपर उठाने वाला कोई व्यक्ति आर्य समाज में नजर नहीं आता।

स्वामी जी ने सन्यासी होने पर जो आर्य-जाति पर उदार आशय के लेख लिखे थे, जो फिर आर्य समाज से अपने मतभेद भी उन्होंने लिख डाले थे और जो 'सत्यार्थ प्रकाश' के उत्तरार्द्ध के खण्डनात्मक समुल्लासों के विषय में उनकी सम्मति थी, उन सबके कारण बहुत से कट्टर आर्य समाजी उनसे बिगड़ गये थे और उन्हें आर्य समाज से बाहर का समझने लगे थे। गांधी जी ने जब आर्य समाज पर टीकाटिप्पणी की थी, तब गुरुकुल के सुयोग्य स्नातक पं० सत्यकेतु जी ने जो एक लेख गांधी जी के समर्थन में लिख दिया था, उस पर जहां बहुत से आर्य समाजी भाई इतने बिगड़े थे कि कइयों ने पं० सत्यकेतु जी का स्नातक-प्रमाणपत्र छील लेने तक के लिए पत्र लिखे तथा आर्यमित्र आदि पत्रों में उन पर कठोर आक्षेप किये गए, वहां स्वामी श्रद्धानन्द जी ने पं० सत्येतु जी के इस

लेख पर सम्मति दी थी कि "सत्यकेतु ने जो कुछ लिखा है, उसे मैं अपनी दी हुई उदार शिक्षा का ही परिणाम समझता हूं।"

यहां जरा पाठक यह भी सोच लें कि गांधी जी ने अपने उस लेख में यदि किसी को बुरा भला कहा था तो वह केवल स्वामी श्रद्धानन्द जी ही थे। पर स्वामी श्रद्धानन्द जी गांधी जी के उस लेख के पक्ष पोषक स्नातक को अपनी शिक्षा का सुफल देने वाला स्नातक कहकर उसके समर्थन में सम्मति दे रहे थे। ऊपर जो मैंने पं० सत्यकेतु जी के लेख के विषय में श्रद्धानन्द जी की सम्मति उद्घृत की है, वह उनके अपने हाथ से लिखे हुए एक पत्र से ली है और वह पत्र मेरे पास सुरक्षित है। यदि पाठक चाहेंगे तो मैं वह पत्र प्रकाशित कर देने में प्रसन्न हूंगा। अस्तु।

स्वामी जी महाराज की उदारता की कथा तो बहुत लम्बी है क्योंकि स्वामी जी ने सत्तर वर्ष के जीवन में जो एक से एक अद्भुत कार्य किये हैं, उन सबका मूल- उन सबका रहस्य- उनका यह उदारता का ही महान् गुण था। अतः उनके जीवन से आर्य समाज को, हिन्दू और मुसलमानों को यदि कुछ सीखना चाहिए तो वह उदारता है। पाठक अनुभव करें कि स्वामी श्रद्धानन्द जी के पवित्र नाम को लोगों के साम्प्रदायिक, संकुचित क्षुद्र भावों को उत्तेजित करने में इस्तेमाल करना कितना अनर्थ करना है ? सचमुच स्वामी जी को केवल शुद्धि और संगठन के संकीर्ण विचारों के प्रचारक के तौर पर पूजना, याद करना उनकी हत्या करना है। बेचारा अब्दुल रशीद तो उनकी हत्या क्या करता ? वह तो उनको अमर कर देने में सहायक हुआ है। पर अमर होते हुए स्वामी जी को हम मार देंगे- कम से कम अपने लिए मार देंगे- यदि हम उस असली महानता को जीवित न रखेंगे अर्थात् उनकी उदारता की पूजा न करेंगे।

श्रद्धानन्द तो गुरुकुल जैसी अपनी उदार महान् कृतियों द्वारा जीवित रहेंगे ही, गुरुकुल के उदार स्नातक तथा अन्य उनके सच्चे अनुयायी उनको अमर करा देंगे। देहली की जामा मस्जिद के मंच से उनका व्याख्यान कराने वाले मुसलमान भाई भी उनका नाम जीवित रखेंगे किन्तु मैं तो शुद्धि संगठन से प्रेम रखने वाले हिन्दू भाईयों से कहना चाहता हूं कि आप भी स्वामी जी की उदारता के उपासक बनिये। यदि आप अनुदार श्रद्धानन्द को पूजते हैं तो आप किसी और को पूजते हैं, श्रद्धानन्द को नहीं पूजते। आपको श्रद्धानन्द से बल, स्फूर्ति और जीवन तभी मिलेगा जब आप उस महान् आत्मा की उसकी उदारता के कारण पूजा करेंगे। तब स्वामी जी का अभीष्ट सफल हिन्दू संगठन और उनकी अभीष्ट शुद्धि भी सम्पन्न हो जायेगी। उदार श्रद्धानन्द की जय हो।

('अलंकार' के श्रद्धानन्द विशेषांक जनवरी १९३५ में प्रकाशित)

श्रद्धा का आनन्द

स्व0 आचार्य अभयदेव

आर्य समाज के सन्यासी प्रायः अपना नाम आनन्दान्त रखते हैं। आर्य समाज के प्रवर्त्तक महान् सन्यासी का नाम भी तो ऐसा ही था- दयानन्द। ऐसा लगता है कि मानों सन्यासी होकर मनुष्य आनन्द (आनन्द मग्न, आनन्द रूप) हो जाता है। बल्कि अधिक ठीक यह कहना होगा कि जब किसी महानुभाव को एक उच्चतर आनन्द की झांकी मिल जाती है, तभी वह उस आनन्द को पा लेने के लिये उसमें बाधक रूप बन्धनों को तोड़ देना चाहता है, त्याग देता है, सन्यास कर देता है, अर्थात् सन्यासी होता है। उच्च आनन्द का दर्शन ही मनुष्य को सन्यासी उच्चतम-आश्रमस्थ बनाता है।

ऋषि दयानन्द ने दया के आनन्द को उपलब्ध किया था। 'दयाया आनन्दो विलसति सदा यस्य पुरतः' ऐसे संस्कृत श्लोक उन्होंने अपना नाम कीर्त्तन करते हुए लिखे भी हैं। उन्होंने दया के आनन्द को उपलब्ध ही नहीं किया था, सिद्ध भी किया था। दुःख क्लेश से सताये हुए प्राणियों को, विदेशियों से पादाक्रान्त हुए इस आर्यावर्त्त देश को, अज्ञान अन्धकार तथा जड़ता से ग्रस्त हुई एवं पक्षपात, राग-द्वेष, भय आदि विकारों से नाना प्रकार से पीड़ित समस्त मानव जाति को ही देखकर उनकी महान् आत्मा सहज भाव से करुणार्द्र हुई, दयायुक्त हुई। उनकी इस दिव्य दया का आनन्द ही था जिसके कारण वे जीवन भर विरोधियों के ईंट-पत्थर आदि की मूर्खतापूर्ण मार सहते रहे और अन्त में हमारे लिए विषपान तक कर गये, पर सदा अपनी दया के प्रेम में प्रसन्न और आनन्दित रहे।

इसी तरह मुंशीराम से श्रद्धानन्द होने वाले हमारे कुलपिता ने सन्यासी बनते समय जिस महान आनन्द की उपलब्धि की, वह श्रद्धा का आनन्द था। उन्होंने सन्यासी होने पर लाहौर समाज के उत्सव पर जो श्रद्धा पर व्याख्यान दिया था, वह आज भी हमें ऊँचा उठने को ललकार रहा है, आज भी ज्योति स्तम्भ का काम कर रहा है। वह व्याख्यान वस्तुतः फिर-फिर पढ़ने लायक है, आज भी ताजा है। उन्होंने उसके बाद जो साप्ताहिक पत्रिका गुरुकुल से निकाली, उसका नाम 'श्रद्धा' रखा था। अज्ञश्चाश्रद्धधानश्च संशयात्मा विनश्यति- यह गीता का श्लोक वे अक्सर बोला करते थे। ज्ञानयुक्त श्रद्धा रखने के कारण वे कभी भी संशयात्मा, किंकर्त्तव्य विमूढ़ या ढुलमुल एक क्षण के लिये भी नहीं होते थे। अन्दर से हमारा नाश कर देने वाला संशय-राक्षस उनके सामने फटक नहीं सकता था। वे सदा श्रद्धापूर्ण थे, अतएव अजेय थे। वे वीर थे।

वे बीहड़ जंगलों को चीरकर अपना नया सीधा रास्ता बनाने वाले शेर थे। दुनिया के उन श्रद्धालुओं की बनाई हुई लम्बी चौड़ी चक्करदार पगडंडियों में घूमते हुए सड़ना उन्हें सह्य न था। दुनियापन उन्हें फुसला नहीं सकता था, उनके सत्य के मार्ग पर कोई रुकावट नहीं खड़ी कर सकता था। जो सत्य होता था, कर्त्तव्य था, उसे वे करते ही थे। अतः वे उन अंग्रेजों की संगीनों के सामने छाती तानकर खड़े हो सकते थे जिनके साम्राज्य में सूर्य अस्त नहीं होता। मार्शल लॉ के दिनों में जब पंजाब के आसमान में उड़ने वाले पक्षियों के भी पर जलते थे तब वे पंजाब में घूम-घूमकर पंजाब को होश में लाकर वहां राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन सफलतापूर्वक करा सकते थे और अन्त में अम्लान-चित्त से, बल्कि उसकी हितकामना करते हुए अब्दुल रशीद की गोली भी खा सकते थे। सच तो यह है कि उनके लिये कुछ भी 'असम्भव' कहलाने वाला असम्भव नहीं था। यह सब इसीलिए था क्योंकि वे श्रद्धा के आनन्द में चूर थे, उन्होंने यह सोमरस अघाकर पी रखा था। तो उनके सामने दुनिया की कौन सी बाधा ठहर सकती थी ?

व्यास जी ने योग भाष्य में श्रद्धा के विषय में क्या सुन्दर कहा है- 'कल्याणीव जननी योगिनं पाति।' श्रद्धा कल्याणी माता की तरह योगी की रक्षा करती है। अध्यात्म-मार्ग पर चलने वाले योगी को तो न केवल इस स्थूल जगत् के किन्तु अन्य जगत् के बड़े भारी-भारी शक्तिशाली असुरों के मुकाबले में आना पड़ता है, वहां श्रद्धा की शक्ति ही माता की तरह उनकी निरन्तर रक्षा करती है। हमारे इस जगत् में भी उन विकट घड़ियों में, जबकि निराशा की घनघोर घटा छा जाती है। और कुछ भी नजर नहीं आता, जबकि लगातार आपत्तियों से घबराकर मनुष्य का धैर्य समाप्त हो जाता है, जबकि असुरों के सामने बेदम और परास्त होकर हम अपने दिव्य हथियार छोड़ने को तैयार हो जाते हैं, वे ही लोग अडिग, अटल और अजेय रहते हैं जो श्रद्धामय दिव्य कवच से परिवेष्टित होते हैं, केवल उन्हीं की शांति अक्षुण्ण बनी रहती है जो श्रद्धा माता की गोद में शरण पा चुके होते हैं। अतः धन्य हैं वे लोग जिन्हें श्रद्धा प्राप्त हुई है और जिन्हें श्रद्धा का आनन्द प्राप्त हुआ है।

ऐसे ही धन्य हमारे श्रद्धानन्द जी महाराज़ थे। ईश्वर करे कि वे श्रद्धा के जिस दिव्य आनन्द की अपने जीवन द्वारा वर्षा कर गये हैं, उसके कुछ छींटें पाकर हम भी कुछ अंश में श्रद्धामय और दिव्य सैनिक बन सकें और अपने जीवन को इस आनन्द द्वारा कृतकृत्य कर सकें।

(२५ दिसम्बर १६८८ के 'आर्यजगत्' से उद्धृत)

उत्तर के सुमेरु स्वामी श्रद्धानन्द

आचार्य चतुरसेन शास्त्री विख्यात उपन्यासकार

उन्नीसवीं शताब्दी के अपराह्न में पंजाब में चार महापुरुष ऋषि दयानन्द के उत्तराधिकारी के रूप में पंक्ति में आ खड़े हुये। इनमें एक थे महात्मा हंसराज दूसरे थे महात्मा मुंशीराम (पीछें स्वामी श्रद्धानन्द), तीसरे थे लाला देवराज और चौथे लाला लाजपतराय। महात्मा हंसराज ने लाहौर में डी.ए.वी. कालेज, महात्मा मुंशीराम ने गुरुकुल कांगड़ी और लाला देवराज ने जालंधर में कन्या महाविद्यालय की स्थापना की तथा लाला लाजपतराय ने देश में स्वतन्त्रता की धूम मचाई इन चार मंगल मूर्तियों का उत्तर भारत में ऐसा सांस्कृतिक प्रभाव पड़ा कि उनका मूल्य किन्हीं भी शब्दों में नहीं आंका जा सकता।

महात्मा हंसराज और लाला लाजपतराय ने जब लाहौर में, डी.ए.वी. कालेज की स्थापना की तब देखते ही देखते यह कालेज आधुनिक पद्धति पर सहस्र-सहस्र युवकों को ज्ञान-दान देने लगा और उनके हृदय में आर्य संस्कृति तथा वैदिक सभ्यता का बीजारोपण करने लगा।

इन दिनों स्त्रियों को पढ़ाना-लिखाना पाप समझा जाता था और लोगों में यह विश्वास था कि पढ़ी-लिखी लड़कियाँ जल्दी विधवा हो जाती हैं। स्त्री-शिक्षा के हिमायतियों को लाठी खानी पड़ती थी। ऐसी अवस्था में लाला देवराज ने जालन्धर में कन्या महाविद्यालय की स्थापना की, जिसने पंजाब में स्त्रियों के जीवन की कायापलट कर दी। परन्तु उत्तर भारत में जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य हुआ वह हुआ स्वामी श्रद्धानन्द के द्वारा गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना के रूप में। यह ऐसा विद्यामन्दिर था, जहां यूनिवर्सिटियों और पाश्चात्य शैलियों का सर्वथा त्याग किया गया। वैदिक संस्कृति और वैदिक धर्म का भारत में प्रचार करना इस विद्यामन्दिर का मूल मन्त्र था। यहां के विद्यार्थियों को प्राचीन भारतीय गुरुकुल प्रणाली पर ब्रह्मचारी वेश में अनागरिक वृत्ति से रहना पड़ता था। यह एक नवीन परिपाटी थी, जिसने बड़ी शीघ्रता से समस्त उत्तर भारत का ध्यान अपनी ओर खींच लिया। संपूर्ण उत्तर भारत में स्वामी श्रद्धानन्द के इस सु-उद्योग का सुफल अंकुरित हुआ लोगों के हृदयों में स्वप्न से जागे हुओं की भांति अपनी भाषा अपनी संस्कृति और अपने देश के प्रति श्रद्धा के भाव उत्पन्न हुये। इस विद्याकेन्द्र के स्नातक प्रथम श्रेणी के लेखक सिद्ध हुए, जिन्होंने साहित्य को विचार, विज्ञान और प्रगति से ओतप्रोत कर दिया। एक शब्द में यह कहा जा सकता है कि आज के जागृत

उत्तर भारत के मूलप्रेरक स्वामी श्रद्धानन्द थे और उन्हें उत्तर भारत का सुमेरु कहना सर्वथा उपयुक्त है। इन्हीं स्वामी श्रद्धानन्द के बारे में प्रस्तुत हैं मेरे अपने व्यक्तिगत संस्मरण।

पहली और अन्तिम भेंट

कुछ ऐसे कारण थे कि उनसे मिलते हुए मैं हिचकता था लेकिन डा० युद्धवीर सिंह उस दिन मुझे उनके पास घसीट ले गये। किसी सार्वजनिक संस्था को कुछ रुपयों की आवश्यकता थी। प्रातःकाल का समय था और स्वामी जी स्नान करके स्वस्थचित बैठे थे। प्रसन्न मुद्रा में थे। हमने संक्षेप में अपना अभिप्राय कह सुनाया। उन्होंने चुपचाप सुना। एक-एक गिलास ताजा दूध आग्रहपूर्वक पिलाया, इधर-उधर की बातें पूछीं और एक हजार का चेक हस्ताक्षर करके हमारे हवाले किया। आश्चर्य और प्रसन्नता से हम लोग अभिभूत हो गये। लखपति, करोड़पति साहूकार भी इतनी आसानी से अंटी ढीली नहीं कर सकते क्षण भर के लिए स्वामी जी का ध्यान दूसरी ओर गया तब मैंने डाक्टर साहब की बगल में टहोका मारकर आहिस्ते से कहा- "यह तो बड़ा मालदार साधु है। कुछ और ज्यादा क्यों न वसूला जाये।" त्यों ही वह वज्रदृष्टि मेरी ओर घूमी एक गूढ़ मुस्कान ओठों में भर कर वह बोले- 'आज आप कैसे निकल पड़े आप तो कहीं आते-जाते नहीं।'

जिस बात से डर रहा था वही सामने आई। समझ गया, अब खैरियत नहीं। ये हजार रुपये और उनका सूद अभी वसूल किया जायेगा। मैंने धीरे से कहा- "डाक्टर साहब खींच लाये।"

"यह मेरा ख्याल है, परन्तु आप एक उदीयमान साहित्यकार हैं और साहित्यकार एकान्तप्रिय होते हैं। परन्तु अधिक एकान्त में यह दोष पैदा हो जाता है कि साहित्यकार की दृष्टि में कल्पना प्रधान हो जाती है, सत्य पीछे छूट जाता है। जहां तक भावना का प्रश्न है, इससे उतनी हानि नहीं होती, पर जब घटनाओं का प्रश्न आता है और उनसे किसी व्यक्ति का सम्बन्ध स्थापित होता है और दुर्भाग्य से वह व्यक्ति यदि सार्वजनिक होता है तब कभी-कभी बहुत भद्दी भूलें हो जाती हैं जो पीछे किसी मूल्य पर भी परिमार्जित नहीं की जा सकतीं।"

मतलब मैं स्पष्ट ही समझ रहा था। पर स्वामी जी कोई बात अधूरी छोड़ते नहीं थे, कोई बात उधार खाते डालते नहीं थे। उन्होंने बिना इस बात की परवाह किये तनिक कठोर भाषा में कहा- "अब आप इस कहानी की बात लीजिये जिसमें मुझे और

मेरे पुत्र को आपने पात्र बनाया है, एक बहुत गंभीर आरोप आपने उसमें मेरे ऊपर लगाया है। मैं नहीं जानता, कहां से ये तथ्य आपको मिले और उनमें आपने कितना कल्पना का सहारा लिया, परन्तु मैं तो अभी जीवित था, यहीं इसी नगर में रहता था, आप यदि मेरे पास आते तो आपको मेरे पास तो सत्य की ही उपलब्धि होती और तब शायद आप की यही कहानी कुछ दूसरा ही रूप धारण कर लेती।"

मुझमें शक्ति नहीं थी कि इस महापुरुष से विवाद करता या जवाब देता। असल बात यह थी कि उस कहानी में कुछ अत्यन्त गुप्त रहस्यों का उद्‌घाटन हुआ था, जिनके कुछ आधारों के सम्बन्ध में एक शब्द भी कह नहीं सकता। वक एक अति भयानक राजनीतिक कहानी थी और उसमें भारत में घटित एक अत्यन्त महत्वपूर्ण क्रान्तिकारी घटना का संकेत था, जिसका सम्बन्ध दिल्ली के कुछ फांसी प्राप्त क्रान्तिकारी से भी था। कहानी "चांद" में छपी थी और उसके कारण "चांद" की तीन हजार की जमानत जब्त हो चुकी थी। स्वामी जी उस कहानी को बख्शेंगे नहीं यह मैं जानता था और इसी कारण उनकी आँखों के आगे आने के सब अवसरों से बचता रहता था। पर अब तो आमना-सामना हो चुका था। मैं नीचे सिर झुकाये निरुत्तर बैठा रहा एक शब्द भी मैंने नहीं कहा।

स्वामी जी ही बोले- "अभी आप नवयुवक हैं। खून आपका गर्म है। पर कभी आप मेरी उम्र को भी पहुंचेंगे, किन्तु, कदाचित् आपका जीवन उस भयानक बवंडर में न फंसे, जिसमें मुझे फंसना पड़ा, क्योंकि आप तो साहित्यिक है, सामाजिक कार्यकर्त्ता नहीं। विरोध सत्ताओं के शक्ति संचालन का कदाचित् आपको अवसर मिले ही नहीं। ऐसी स्थिति में आप अपनी भूल को कभी समझ न सकेंगे। परन्तु मैं तो यह समझता हूं कि साहित्यकार को समाज के समूचे ढांचे को उसी प्रकार ठीक-ठीक जान लेना आवश्यक है जिस प्रकार एक चिकित्सक को शरीर की भीतरी बाहरी पेंचीली बनावट, साथ ही जीवन क्रिया के मूलाधारों को जान लेना आवश्यक है। इसके लिए साहित्यकार ही रहना चाहिए।"

मैंने तो इस पर भी कोई उत्तर नहीं दिया। जब हम चले तब वह चैक और वह दूध बहुत बोझिल हो रहा था और जीने से नीचे उतरते हुए मेरे पैर लड़खड़ा रहे थे। वज्रवाक्य तो जैसे तप्त शलाका से मेरे हृदय-पटल पर लिख दिये गये। आज चालीस बरस बीत जाने पर भी वे ज्यों के त्यों मेरे अन्तस्तल पर अंकित हैं।[1]

(१) संभवतः यह लेख सन् १९६० के आसपास लिखा गया होगा। (सं०)

इस घटना के थोड़े ही दिनों बाद मुझे अप्रत्याशित रूप में जल्दी-जल्दी उस जीने की सीढ़ियों पर चढ़ना पड़ा। अच्छी तरह मुझे उस दिन की प्रत्येक बात याद है- खारी बावली में मैं दाल चावल खरीद रहा था। एक आदमी दौड़ता हुआ जा रहा था और जोर-जोर से चिल्ला रहा था- "स्वामी जी कत्ल हो गये। स्वामी जी कत्ल हो गये।"

बाजार में हलचल मच गई और मैं तत्काल ही लपकता हुआ नये बाजार की ओर दौड़ा। कुछ आदमी सड़क पर भीड़ बनाकर खड़े थे, कुछ जीने पर चढ़ रहे थे। भीड़ चीरकर जब मैं ऊपर पहुँचा तब देखा सेवक धर्मसिंह की जांघ से रक्त बह रहा था, पर वह दीवार का सहारा लिए खड़ा था। पलंग पर स्वामी जी लहूलुहान पड़े थे। तीन गोलियाँ उनके सीने के पार हो चुकी थीं। स्नातक धर्मपाल ने कातिल को अपनी बलिष्ठ बाहों में दबोच लिया था और वह भाग निकलने को छटपटा रहा था। रिवाल्वर अब भी उसके हाथों में था। स्वामी जी का प्राणान्त हो चुका था। उनका मुंह और उनकी आंखें आधी खुली थी और इन्द्र जी उनके ऊपर झुके हुये थे। नीचे और ऊपर की अब भीड़ बढ़ गई थी। शोर भी बहुत हो रहा था। कोई एक व्यक्ति चाकू हाथ में लेकर कातिल को कत्ल कर डालने को जोर कर रहा था और लोग उसे पकड़ रहे थे। पुलिस आई और उसने कातिल को कब्जे में किया। लाला दीवानचन्द्र आये और आँखों में आंसू भरकर स्वामी जी का सिर गोद में लेकर उठ गये। डाक्टर अंसारी और डा० अब्दुल रहमान भी आ गये थे। पर अब क्या हो सकता था। डाक्टर अंसारी की आँखें गीली थीं। कातिल अधेड़ उम्र का मुंशी जैसा आदमी था। जब पुलिस ने उसे हथकड़ी पहना कर खड़ा किया तब मुस्करा दिया और कहा "डाक्टर साहब, आदावअर्ज।" इससे भीड़ में बहुत उत्तेजना फैल गई और डा० अंसारी पुलिस के संरक्षण में वहां से चले गये।

और फिर दिल्ली के इतिहास में अभूत-पूर्व उनकी शवयात्रा निकली। दिल्ली और पंजाब के तरुणों का उछलता हुआ रक्त जोश मार रहा था। अनगिनत भजन-मंडलियाँ भजन गाती जाती थीं। उनमें से एक मैं भी सम्मिलित था। आप कदाचित् विश्वास न करें, मैं स्वयं चीख-चीख कर गा रहा था, कुछ अपने ही द्वारा रची गई पंक्तियों को।

उसके बाद एक सभा कम्पनी मांग में हुई, जहाँ लोगों के सिर ही सिर नजर आते थे। उस सभा की एक बड़ी घटना मुझे याद है-लाला लाजपतराय का भाषण। लाला जी भाषण नहीं दे रहे थे, वह तड़प रहे थे। कह रहे थे- "श्रद्धानन्द, तुम्हारे जीवन पर भी मैंने सदा रश्क किया और मौत पर भी रश्क करता हूं। भगवान् मुझे ऐसी ही मौत दे तो मैं इतना समझूं कि मैं तुमसे आगे न बढ़ सका तो पीछे भी न रहा।" और झर-झर आंसू उस नरशार्दूल की आंखों से बह रहे थे।

एकता का सूत्रधार - श्रद्धानन्द

डॉ. धर्मपाल

संसार में कभी-कभी ऐसे महापुरुष जन्म लेते हैं जो अपने, त्याग, तपस्या, परमार्थ एवं बलिदान से नए युग का और नए इतिहास का निर्माण करते हैं। उनके पदचिन्हों पर चलकर आने वाली पीढ़ियाँ अपने को धन्य मानती हैं। सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में नई दिशा प्रदान करने वाले महापुरुषों की श्रृंखला लम्बी है और हमें ऐसे महापुरुषों का श्रद्धापूर्वक स्मरण करना चाहिए ताकि हम उनके जीवन और कृतित्व से प्रेरणा ग्रहण कर सकें तथा सामाजिक कल्याण के कार्य करके अपने जीवन को अर्थवता तथा सार्थकता प्रदान कर सकें। युग प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती ऐसे ही महामानव थे। वे एक ऐसी पारसमणि थे जिसके स्पर्श से अनेक पाप-पंक में निमग्न मनुष्य स्वर्ण बन गए और उनका तेजोदीप्त निर्मल सुरभित जीवन दूसरों के काम में लग गया। ऐसे ही महापुरुषों ने सर्वमेध यज्ञ तक करने में भी संकोच नहीं किया। वे अपनत्व से ऊपर उठ गए थे। वे सबके लिए हो गए थे। और ऐसे ही एक महामानव थे स्वामी श्रद्धानन्द जो मात्र एक बार स्वामी दयानन्द के ओजस्वी, तेजस्वी स्वरूप को देखकर, उसके अकाट्य तर्कों से प्रभावित होकर, उनकी ईश्वर और धर्म की व्याख्या सुनकर उनके हो गए। स्वामी श्रद्धानन्द का पूर्व नाम मुंशीराम था। अनेक दुर्व्यसनों से ग्रस्त मुंशीराम का जीवन स्वामी दयानन्द के उपदेशामृत का पान करके सुवर्णमय हो गया। उनका सारा संसार ही आलोकित हो गया। उनकी सभी दशों दिशाएँ सुवासित हो गयीं। वह जिस दिशा में भी गया, उनकी चरण-रेखा वहीं पर अंकित हो गई। उन्हीं कदमों पर आज भी अनेक चलने को लालायित है।

वकील मुंशीराम की मानसिक और बौद्धिक चेतना की जागृति उच्च शैल शिखर से आविर्भूत शुभ्र जलस्रोत के समान थी जो कल कल करती चारों दिशाओं में फैल गई। चेतना के उस अजस्र स्रोत से मानव कल्याण की जलधारा फूट पड़ी। धीरे-धीरे वह पतली जलधारा शिवालिक की उच्च पर्वत श्रृंखलाओं से उतर कर हरिद्वार के विस्तीर्ण प्रान्तर में ठहर गई और उसने चारों ओर रम्य वातावरण की सृष्टि की। यहां पर न रुक कर यह उद्दाम प्रवाह धारा राष्ट्रीय क्षितिज पर उभर कर, सभी को एक दृष्टि से देखने तथा सभी का कल्याण करने के लिए अग्रसर हो उठी- "जिस दिन पवित्र सन्यासाश्रम में प्रवेश किया, उसी दिन सारे संसार को एक परिवार समझने, सारे संसार

के धन को एक आँख से देखने और लोक लज्जा को छोड़कर लोक सेवा में दत्तचित्त होने का व्रत धारण कर लिया था।" मायापुरी की वह वाटिका धन्य है, जहाँ से यह सुव्रती जन-जन के उद्धार के लिए राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली की ओर बढ़ चला।

स्वामी श्रद्धानन्द के जीवन में अनेक मोड़ आये। वे पौराणिक जगत से निकल कर आर्य जगत् के सिरमौर बने। यहां पर उन्होंने राष्ट्रीय विचारधारा को नई ऊर्जा तथा देश की रक्षा में तत्पर नागरिक देने के लिए अपनी प्राचीन गौरवमयी शिक्षा पद्धति पर गुरुकुल की स्थापना की। अब उनका क्षेत्र बढ़ गया और वे सामाजिक तथा राजनैतिक क्षितिज पर छाते गए। उनके जीवन में कहीं पर भी ठहराव न था। वे तो तीर की भांति आगे बढ़ जाते थे। जब राजनैतिक जीवन की क्षुद्रताएं सामनें आईं और उन्हें अपना अभीष्ट प्राप्त न होता दिखा तो हिन्दू महासभा, हिन्दू संगठन, आर्यसंगठन, दलितोद्धार, अछूतोद्धार तथा धर्म परावर्तन की दिशा में आगे बढ़ चले।

उनके जीवन में विभिन्न सोपान और परिवर्तनों और उनके द्वारा प्रवर्तित एकता के सूत्रों को समझने के लिए उनके लेखों और ग्रन्थों का अनुशीलन अनिवार्य है। स्वामी जी ने पत्रकारिता की महत्ता को अपने जीवन के प्रारंभिक चरणों में ही पहचान लिया था। वे शब्द की शक्ति से परिचित थे। इसलिए उन्होंने १८ फरवरी १८८६ को जालंधर से "सद्धर्म साप्ताहिक" प्रारंभ किया। इस पत्र की रीति नीति को देखकर लाला सांईदास ने कहा था- "यह पत्र समाज में नया युग लाएगा। यद्यपि यह कहना कठिन है कि यह युग हितकर होगा या अहितकर।" ये शब्द ठीक वैसे ही, जैसे कि उन्होंने मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) के आर्यसमाज लाहौर में प्रविष्ट होने पर, पहले दिन उनके भाषण के बाद कहे थे - "आर्यसमाज में यह नई स्पिरिट आई है, देखें, यह आर्यसमाज को तारती है या डुबो देती है।" लाला सांईदास की विलक्षण परीक्षण शक्ति की उद्‌भावना को स्वामी श्रद्धानन्द ने सकारात्मक दिशा में प्रवृत्त होकर गौरव ही प्रदान किया। इस "सद्धर्म प्रचारक" को पढ़कर एक सज्जन ने आक्षेप करने पर कि- "दयानन्द के इतने कट्टर शिष्य बनते हो, पर महर्षि ने तो अपना सारा साहित्य हिन्दी में लिखा है, आप सद्धर्म प्रचारक उर्दू में क्यों निकालते हैं? उन्होंने प्रचारक को हिन्दी में निकालने का निश्चय कर लिया और मार्च १६०७ में "सद्धर्म प्रचारक" गुरुकुल कांगड़ी से हिन्दी में प्रकाशित होने लगा। १६११ में उन्होंने "प्रचारक" को दैनिक कर दिया। इसे उन्होंने दिल्ली से प्रकाशित किया तथा इसमें राजनीति की गतिविधियों को प्रमुखता दी गई। उनके बड़े पुत्र "हरिश्चन्द्र" प्रचारक के संपादक थे। ३० जनवरी

१६१५ को यह पत्र पुनः हरिद्वार से प्रकाशित होने लगा। यह पत्र आर्य समाज की सार्वभौम नीतियों का नियामक था। महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) के भावों और विचारों का संपूर्ण प्रतिफलन उसमें होता था। १६०४ में "सत्यवादी" नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन किया गया। इसके प्रथम संपादक पं. पद्म सिंह शर्मा थे। स्वामी श्रद्धानन्द के संपादन में १६२० में गुरुकुल कांगड़ी से "श्रद्धा" नाम की साप्ताहिक पत्रिका का प्रकाशन हुआ। दक्षिण भारत के अंग्रेजी शिक्षित समुदाय तक अपने विचारों को पहुँचाने के लिए स्वामी श्रद्धानन्द ने १ अप्रैल १६२६ से अंग्रेजी साप्ताहिक "दि लिबरेटर" निकाला। स्वामी जी के दौहित्र श्री सत्यकाम विद्यालंकार ने "नवयुग" नामक एक दैनिक का संपादन किया। १६२६ में स्वामी जी की हत्या हो जाने पर वीर सावरकर ने अपने छोटे भाई डॉ० नारायण सावरकर को रत्नगिरि बुलाया और उन्हें दो पत्र निकालने की प्रेरणा दी। इसमें एक पत्र "श्रद्धानन्द" था। यह पत्र स्वामी श्रद्धानन्द जी की पावन स्मृति में प्रारंभ किया गया था। इसके प्रथम अंक में उनका अपना लेख "श्रद्धानन्द जी की हत्या" भी प्रकाशित हुआ था।

स्वामी श्रद्धानन्द हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के पक्षधर थे। वास्तव में वे यह मानते थे कि एक ही भाषा होने से एकता का सूत्रपात किया जा सकता है। छः दिसम्बर १६१३ को भागलपुर में हुए चतुर्थ हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष पद पर भाषण करते हुए स्वामी जी ने उस समय कहा था- "बिना एक राष्ट्रभाषा के प्रचार के राष्ट्र का संगठित होना ऐसा ही दुष्कर है जैसा बिना जल के मीन का जीवन। जिस समाज के सभासदों के पास एक दूसरे के हार्दिक भावों को समझने का कोई एक साधन नहीं, उनका संगठन दृढ़ कैसे हो सकता है। भारत वर्ष के नेताओं ने यह तो मान लिया है कि एक राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र का निर्माण नहीं हो सकता, परन्तु इस विषय में अभी तक मतभेद है कि कौन सी राष्ट्रभाषा बन सकती है। मेरी सम्मति यह है कि आर्यभाषा ही राष्ट्रभाषा बन सकती हैं। इस भाषा को हम केवल हिन्दुओं की ही भाषा नहीं प्रत्युत सारे देश की राष्ट्रभाषा बनाना चाहते हैं।" स्वामी श्रद्धानन्द भाषायी एकता को भी राष्ट्रीय एकता का एक प्रमुख सूत्र मानते थे।

स्वामी श्रद्धानन्द जात पाँत के भेदभाव को दूर करना चाहते थे। उनके विचार से इससे "एकता" के मार्ग में बाधा पड़ती है। उनके गुरुकुल में मेहतरों के बच्चे भी सवर्णों के बच्चों के साथ-साथ रहते, पढ़ते, खेलते और खाते थे। २६ दिसम्बर १६१६ को अमृतसर कांग्रेस के अपने स्वागताध्यक्ष भाषण में उन्होंने अछूतोद्धार को कांग्रेस कार्यक्रम का आवश्यक अंग बनाने का प्रस्ताव रखा था। "पवित्र जातीय मन्दिर में बैठे हुए अपने हृदयों को मातृभूमि के पवित्र जल से शुद्ध करके प्रतिज्ञा करो कि साढ़े छः करोड़ हमारे लिए अछूत नहीं रहे बल्कि हमारे भाई-बहन हैं। उनकी पुत्रियाँ और पुत्र हमारी पाठशालाओं में पढ़ेंगे, उनके नर-नारी हमारी सभाओं में शामिल होंगे और स्वतंत्रता प्राप्ति के युद्ध में हमारे कंधे से कंधा जोड़ेंगे।"

वे एकता स्थापना के सूत्रों के अनतर्गत ही "अछूतोद्धार" को मानते थे। उनका दिल उस समय रो उठा था, जब पं० मदन मोहन मालवीय की अध्यक्षता में आयोजित हिन्दू संगठन की सभा में एक अछूत को अपने विचार प्रकट करने से रोक दिया गया था। स्वामी श्रद्धानन्द ने ३१ मार्च १६१६ की घटनाओं का विवरण इस प्रकार दिया था- "३१ को पचास हजार मातमदारों के साथ मैं कब्रिस्तान की ओर चला, मुसलमान शहीद का जनाजा हिन्दू बराबर कन्धा दे रहे थे। शहीद की कब्र पर उसके खून के पैबन्द से बरसों के बिछुड़े हुए दिल एक दूसरे से जुड़ गए थे। फिर शाम को दो और जनाजे कब्रिस्तान की ओर चलते करके मैं तीन अर्थियों के साथ श्मशान भूमि में पहुंचा और दाहकर्म के पीछे परमेश्वर के दरबार में शान्ति के लिए प्रार्थना की और हिन्दू मुसलमानों को ईश्वर दत्त एकता को स्थिर रखने के लिए अपील की तो एक सिक्ख भाई ने कहा- "हम पर क्यों जुल्म करते हो ? सिक्ख भी कौम के साथ हैं।" उन हजारों की भीड़ में उस समय सैंकड़ों की आँखों से प्रेम की जलधारा बह रही थी और जब मैं श्मशान भूमि से चल दिया, तो प्रिंसिपल सुशील कुमार रुद्र आकर गले मिले और कहा- "मातृभूमि के निरपराध पुत्रों पर अत्याचार नहीं देख सकता, मेरा हृदय जाति के साथ है और प्रत्येक सच्चा ईसाई आपके साथ है।"

स्वामी जी के इन शब्दों को सुनकर कौन होगा, जो उन्हें संकुचित दायरों में बांधने का प्रयत्न करे। वह सारे मानव समाज के थे, पूरा राष्ट्र उनका अपना था। उनकी शहादत सूर्य का वह प्रकाश है जो सब पर समान रूप से पड़ता है और जीवन का संचार करता है।

४ अप्रैल १६१६ की घटना हिन्दू मुस्लिम एकता का एक विशिष्ट उदाहरण है। स्वामी जी महाराज ने दिल्ली की शाही जामा मस्जिद से वेदमंत्र "त्वं हि नः पिता वसो, त्वं माता शतक्रतो" के साथ अपना संदेश आरंभ किया था। इसके बाद उन्होंने फतहपुरी मस्जिद में भी जनता को संबोधित किया था। "हिन्दू मुसलमानों को और अधिक संगठित होकर देश की परतंत्रता की बेड़ियां काटनी है। "उनकी मान्यता थी कि हिन्दूओं और मुसलमानों की एकता के द्वारा ही राष्ट्रीय एकता और स्वाधीनता को प्राप्त किया जा सकता है।

सन् १६२२ में पंजाब में अजनाला के पास "गुरु का बाग" को लेकर सिक्खों ने मोर्चा लगाया हुआ था। उसमें भाग लेने के लिए स्वामी जी अमृतसर पहुंचे और अकालतख्त से अपना सुप्रसिद्ध व्याख्यान दिया। इस व्याख्यान ने हिन्दू-सिक्ख एकता को सुदृढ़ आधार प्रदान किया।

जिस समय अब्दुल रशीद अपनी मूर्खताभरी चेष्टा से इस्लाम के माथे पर कलंक का टीका लगा रहा था, उधर गोहाटी में अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा के अधिवेशन की तैयारियाँ हो रही थीं। स्वागताध्यक्ष महोदय ने स्वामी जी को उसमें आमंत्रित किया। वे स्वयं तो रुग्णावस्था के कारण उसमें सम्मिलित न हो सकते थे, परन्तु उस समय उन्होंने जो तार द्वारा संदेश भिजवाया, वह एकता का यज्ञ है-

"On Hindu-Muslim unity depends future well being of India"
"अर्थात्! भारत का भावी सुख हिन्दू मुस्लिम एकता पर आश्रित है।"

स्वामी जी महाराज एकता पर कितना बल देते थे, यह उनके इन कथनों से सर्वथा स्पष्ट है : "मैं धमकियों से पूर्ण संदेश भेजने वालों को ऐसा पतित नहीं समझता जैसा कि वे स्वयं अपने आपको समझते हैं। जो मुझसे सच्चा प्रेम करते हैं, उनसे मेरी प्रार्थना है कि वे मुसलमान भाइयों के प्रति सहिष्णुता दिखाएं और मुझे अपने माने हुए सिद्धान्तों की रक्षा में सहायता दें।"

निस्संदेह राजनीतिज्ञों और योद्धाओं का किसी जाति के निर्माण करने में बड़ा हाथ होता है। परन्तु उनके नाम सहज में ही भूल जाते हैं, जबकि उन महात्माओं के नाम जो किसी जाति के नवीन जीवन को बनाते हैं, आगामी नस्लों की स्मृति में सदा बने रहते हैं। उन्हीं में स्वामी श्रद्धानन्द जी थे। उन्होंने हिन्दू मुस्लिम एकता के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। इसके लिए उन्होंने अपने प्राणों की आहुति दे दी।

जो सोचते हैं कि वे किसी एक साम्प्रदायिक भावना से परिपूर्ण थे, वे गलती पर हैं, स्वामी जी महाराज तो इन क्षुद्र सीमाओं से ऊपर उठ चुके थे। वे कर्म, अकर्म और विकर्म का भेद जानते थे। उनके विचार उदार थे। उनका हृदय विशाल था। उनका कर्तृत्व सहिष्णु था। उनकी विनम्रता, निर्भीकता, बलिदान का भाव और अटल विश्वास ही उनके जीवन का श्रृंगार थे। वे मनुजता का मान थे। वे शूरता की शान थे। वे ऋषियों की आर्ष आन थे। वे भारत भू का अभिमान थे।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी, सत्यनिष्ठ, कर्त्तव्यपरायण, ईश्वर विश्वासी, स्वाभिमानी, निर्भीक, आदर्श आचार्य, छात्र वत्सल, दृढ़ सिद्धान्तवादी, सभी कार्यों में अग्रणी, सर्वस्व समर्पण कर्ता, एकता के सूत्रधार राष्ट्रनायक स्वामी श्रद्धानन्द को हमारी विनत श्रद्धाञ्जलि।

-कुलपति

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४६४०४

उन्नति के शिखर पर क्रमिक आरोहण

डॉ० भवानीलाल भारतीय
8/423, रत्नाकर, नन्दनवन, जोधपुर (राज०)

स्वामी श्रद्धानन्द का जीवन अधः पतन के गहरे गर्त से निकलकर सार्थकता के सर्वोच्च सोपान पर चढ़ जाने की एक गौरवमयी कथा है। अपनी किशोर और युवा अवस्था में चारित्रिक पतनों की विभीषिकाओं उन्हें समय-समय पर त्रस्त और भयभीत तो किया किन्तु उन पर विजय प्राप्त करने की उनकी चेष्टायें भी निरन्तर चलती रहीं और अन्ततः पर्याप्त प्रयास के पश्चात् ही सही, वे अपनी इन क्षुद्र इन्द्रियजन्य दुर्बलताओं को नियन्त्रित कर सके। उनके जीवन में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन तब आया जब बरेली में उन्हें ऋषि दयानन्द के तेजः पूत, ब्रह्मचर्य की गरिमा से उद्दीप्त, लोकहित के प्रति पूर्णतया समर्पित, सत्य और धर्म के लिए सर्वथा संकल्पित व्यक्तित्व को जानने का अवसर मिला।

यूरोप के प्रखर चिन्तकों और तार्किक दार्शनिकों के विचारों के रंग में रंग मुंशीराम को प्रथम बार ज्ञात हुआ कि भारत का यह साधु जो सर्वथा निरासक्त जीवन व्यतीत करते हुए भी समाज और राष्ट्र की कल्याण कामना करता है तथा लोगों के बौद्धिक क्षितिज के विस्तार के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है, कोई काम की बात कह सकता है। अन्यथा दयानन्द की वक्तृता सुनने से पहले तक तो उसे विश्वास ही नहीं था कि भारत का भिक्षोपजीवी सन्यासी वर्ग भी कोई अक्ल की बात करता है।

दयानन्द का यह सम्पर्क ही मुंशीराम के जीवन की पतन को कारा से मुक्त करा सका और उसके पश्चात् उनकी जीवनधारा जिस दिशा की ओर उन्मुख हुई उससे वे निरन्तर श्रेय साधना में ही लगे रहे। श्रद्धानन्द का जीवन श्रद्धा और विश्वास के दो सूत्रों से सतत ओतप्रोत रहा। जिन नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों में उनकी आस्था रही, उनको स्वयं में लाने तथा अन्यों में प्रचारित करने में वे सदा तत्पर रहे इसी प्रकार जिन विचारों और कार्यक्रम के प्रति उनकी आस्था समाप्त होती गई उनको त्यागने में भी उन्हें संकोच नहीं हुआ। लाहौर में रहते समय वे ब्रह्मसमाज तथा आर्य समाज के प्रति समान रूप से आकर्षण का अनुभव करते थे, किन्तु जब अपनी पुनर्जन्म विषयक जिज्ञासा का समाधान उन्हें सत्यार्थप्रकाश में मिला तो वे दयानन्दीय विचारधारा के प्रति पूर्णतया अनुरक्त और समर्पित हो गये तथा अपने शेष जीवन को आर्य समाज के प्रचार प्रसार में ही लगा दिया।

सार्वजनिक जीवन

श्रद्धानन्द का सार्वजनिक जीवन निरन्तर विवेकशील रहा किन्तु उनका केन्द्र बिन्दु आर्य समाज ही था जो धर्म समाज और राष्ट्र के कल्याण के साथ विराट् मानवहित जैसे लोकोत्तर आदर्श को लक्ष्य बनाकर जनमानस को आन्दोलित और प्रभावित करता था। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक में वे अपने जन्म प्रान्त पंजाब की आर्यसामाजिक गतिविधियों के सूत्राधार बने रहे। जालन्धर के प्रधान पद पर रहकर उन्होंने धर्म प्रचार की मस्ती को अनुभव किया तथा अपने आचार्य देव के स्वप्नों को सार्थक बनाने हेतु अधिकतम त्याग, परिश्रम अध्यवसाय और पुरुषार्थ का जीवन जिया। लाहौर के उनके सामाजिक जीवन ने उन्हें आर्यसमाज के एक दल के गौरवशाली नेता के पद पर प्रतिष्ठित किया, जो उतना ही अधिक चुनौती भरा भी सिद्ध हुआ।

जब मांसाहार के विरोध तथा पाश्चात्य शिक्षा की प्रधानता न देकर गुरुकुलीय शिक्षा के प्रवर्तन जैसे मुद्दों पर उनका विपक्षी दल से टकराव हुआ, तो मुन्शीराम की चारित्रिक दृढ़ता, सिद्धान्त निष्ठा तथा वैदिक धर्म के प्रति उनके अनन्य प्रेम के ही परीक्षा हुई। दलीय संघर्ष की इस अग्नि ने तपाकर मुन्शीराम को कुन्दन बना दिया और अब वे मात्र आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के ही प्रधान नहीं रहें, किन्तु सम्पूर्ण आर्य जगत् के बेताज बादशाह बन गये। उनके समक्ष विरोध पक्ष के साधारण नेता तो बौने ही लगते थे। महात्मा हंसराज और लाला लाजपतराय की ख्याति तथा प्रसिद्धि के तो कुछ कारण भी थे।

लाला मुंशीराम के आर्य समाज में प्रविष्ट होते समय लाहौर आर्य समाज के पितामह तुल्य लाला सांईदास ने कहा था कि आज एक नई शक्ति का आर्य समाज में प्रवेश हो रहा है, पता नहीं, यह आर्य समाज को तारेगी या डुबायेगी। श्रद्धानन्द चरित का पूर्ण अवगाहन करने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मुन्शीराम नाम का जो व्यक्ति उस दिन आर्यसमाज लाहौर का सभासद बना था, उसने ऋषि दयानन्द की इसी दिव्य संस्था के गौरव को चार चांद ही लगाये हैं। आज आर्य समाज के १२३ वर्ष के इतिहास में दयानन्द के पश्चात् श्रद्धानन्द से भिन्न हमें कोई ऐसी हस्ती दिखाई नहीं देती, जिसने धर्म, समाज राष्ट्र तथा अखिल मानव जाति के हितचिंतन में अपने आपको इस प्रकार सर्वथा समर्पित किया हो।

गुरुकुल शिक्षा प्रणाली

भारतीय शिक्षा प्रणाली में पुरातन तत्वों को पुनः प्रविष्ट कराना तथा उसे नैतिकता, चरित्र, धर्म, त्याग और बलिदान की सिद्धि में नियोजित करना महात्मा मुन्शीराम का एक अन्य ऐतिहासिक कार्य था। जो लोग श्रद्धानन्द का एक आर्यसमाजी

नेता के रूप में मूल्यांकन नहीं करते, वे भी मानते हैं कि भारत की शिक्षा में नैतिक मूल्यों का प्रवेश उनके द्वारा ही सम्भव हुआ। महामना मालवीय जी द्वारा स्थापित हिन्दू विश्वविद्यालय तो अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की प्रतिद्वन्द्विता में स्थापित पाश्चात्य प्रणाली की एक शिक्षण संस्था ही बनकर रह गई, किन्तु गुरुकुल कांगड़ी तो भारत की पुरातन शिक्षा व्यवस्था को ही पुनरुज्जीवित करने का एक सार्थक प्रयास था, जिसका उल्लेख प्राचीन संस्कृत साहित्य तथा आर्ष ग्रन्थों में तो उपलब्ध होता है, किन्तु विगत अनेक शताब्दियों तक उसके अनुरूप कोई संस्था सचमुच भारत में पनप सकी है, यह कहना कठिन है। गुरुकुल की शिक्षा पद्धति को देखकर यदि देश भक्त एण्ड्रूज तथा इंग्लैंड के रैमजे मैकडानल्ड जेसे राजनीतिज्ञों को आश्चर्य मिश्रित प्रसन्नता हुई तो महात्मा गांधी जैसे भारत के राष्ट्रीय नेताओं ने भी उसकी प्रशंसा करने में कंजूसी नहीं दिखाई यह दूसरी बात है कि कालान्तर में वही गुरुकुल कांगड़ी अपने संस्थापक के आदर्शों से च्युत होकर पश्चिम की प्रणाली पर संचालित भारत की उन सैंकड़ों यूनिवर्सिटियों में एक बनकर रह गया और उसकी सारी विशिष्टतायें उसके संचालकों की अक्षमता, दृष्टिहीनता तथा गुरुकुलीय आदर्शों के प्रति आस्था के अभाव के कारण एक-एक कर नष्ट होती गई।

गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता और आचार्य पद पर अपने जीवन के लगभग दो दशक व्यतीत करने के पश्चात् स्वामी श्रद्धानन्द को लगा कि अब उन्हें गुरुकुल की प्राचीरों से बाहर निकलकर देश की स्वाधीनता के यज्ञ में भी अपनी आहुति देनी है। दक्षिण अफ्रीका में कुछ ठोस सेवा करके लौटने वाले जिस कर्मवीर गांधी का उन्होंने गुरुकुल में उस समय स्वागत किया था जबकि देश के अधिकांश लोग उसे भलीभांति जानते भी नहीं थे; और जिसे उन्होंने 'महात्मा' कहकर पुकारा था, सौराष्ट्र का वही "बैरिस्टर मोहनदास गांधी" अब भारत के जन मन की आशाओं और आकांक्षाओं का प्रतीक बन देश में सर्वत्र देवता की भांति पूजा और आराधना का पात्र बना हुआ था। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने अनुभव किया कि देश के लिए भी कुछ करने का समय आ गया है। १६१७ से १६२२ तक के पाँच वर्ष राष्ट्रदेव की सेवा में उन्होंने सिपाहियों की संगीनों के प्रहार के लिए अपनी छाती खोल दी। जामा मस्जिद कीं प्रवचन वेदी से परम पिता की पुनीत महिमा का आख्यान करते हुए हिन्दू और मुसलमानों को देश के लिए सर्वस्व निछावर करने की प्रेरणा की। कांग्रेस की उच्चकमान के एक महत्वपूर्ण अंग बन कर इस राष्ट्रीय संस्था की नीतियों का संचालन किया और समकालीन राष्ट्र नेताओं के आदरास्पद बने।

राजनीति में धर्म, नैतिकता तथा आध्यात्मिकता के पावन मूल्यों को समाविष्ट

कराने का श्रेय महात्मा गांधी को बेशक मिला, किन्तु इसके लिए इतिहासकार स्वामी श्रद्धानन्द को भी विस्मृत नहीं कर सकेंगे, क्योंकि उन्होंने ही सत्याग्रह को धर्मयुद्ध की संज्ञा दी तथा जिन्हें अमृतसर कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष के पद को स्वीकार करने का अनुरोध करते समय महात्मा गांधी जी ने लिखा था "यदि आप स्वागत समिति के सभापति हो जायेंगे तो आप कांग्रेस में धार्मिक भाव पैदा करने में समर्थ हो सकेंगे।"

कांग्रेस को देन

कांग्रेस के कार्यक्रम में स्वदेशी के महत्व, राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार तथा अछूतोद्धार जैसे रचनात्मक मुद्दों को स्थान दिलाने के लिए स्वामी जी का कर्तत्व सदा याद किया जाता रहेगा। महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन में उनकी कितनी जबरदस्त आस्था थी, यह उनके उस पत्र में देखते हैं, जो उन्होंने २५ सितम्बर १६२० को आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान लाला रामकृष्ण जी को लिखा था। इसमें उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया कि "इस समय मेरी सम्मति में असहयोग की व्यवस्था के क्रियात्मक प्रचार पर ही मातृभूमि का भविष्य निर्भर है। यदि यह आन्दोलन अकृतकार्य हुआ और महात्मा गांधी को सहायता न मिली तो देश की स्वतन्त्रता का प्रश्न ५० वर्ष पीछे जा पड़ेगा। जाति के जीवन व मृत्यु का प्रश्न हो गया है।" राष्ट्र की लड़ाई के सैनिक बनने में यदि उन्हें गुरुकुल या आर्य समाज का क्रम थोड़े समय के लिए छोड़ना भी पड़ा तो उसका उन्हें कोई खेद नहीं था, क्योंकि उन्हें देश की स्वतन्त्रता का यह युद्ध सर्वोपरि दीखता था।

किन्तु जब उन्होंने देखा कि आजादी की लड़ाई का यह कर्णधार (महात्मा गांधी) खुद कभी कभी सनक में आकर ऐसे फैसले कर जाता है जिससे सारे देश को परेशानी का सामना करना पड़ता है और देशवासियों की संघर्ष करने की शक्ति और वृत्ति को आघात पहुंचता है, तो उन्होंने गांधी जी के समक्ष भावना और आवेश में लिए उनके इन फैसलों का प्रतिवाद भी किया। गांधी जी ने तो स्वयं अपने कतिपय निर्णयों को हिमालय जैसी भूल माना ही था। गांधी जी की मुस्लिमतोषिणी नीति से भी वे सहमत नहीं थे। यदि महात्मा गांधी हिन्दुओं और मुसलमानों को समान स्तर पर रखकर उनकी किसी आपत्तिजनक बात की आलोचना या टीका करते तो वह समझ में आने वाली बात थी। किन्तु मुसलमानों की साम्प्रदायिक विद्वेशयुक्त बातों को सहन करना एवं उनकी संकीर्ण मनोवृत्ति के प्रति अकारण उदारता दिखाना स्वामी श्रद्धानन्द को कदापि पसन्द नहीं था।

कांग्रेस छोड़ी

अन्ततः वे कांग्रेस से भी दूर हट गये। उनके विचार में देश में हिन्दू समाज का

बहुमत है। देश के हित भी तभी तक सुरक्षित हैं जब तक हिन्दू यहां रहकर सम्मान और गौरव का जीवन बिताते रहें। किन्तु सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से असंगठित हिन्दुओं को जब तक एकता के सूत्र में आबद्ध नहीं किया जाता, तब तक वे देश की स्वाधीनता, उन्नति और प्रगति के लिए अपना समुचित योगदान करने में असमर्थ हैं। ऐसी स्थिति में स्वामी श्रद्धानन्द ने हिन्दुओं को संगठित होने की प्रेरणा दी।

संगठन अपने-आप में तो एक निराकार विचार-सा ही है। जातियों को संगठन का लाभ तभी मिलता है जब वे अपनी सामाजिक दुर्बलताओं को दूर करती हैं तथा भाव,भाषा विचार, संस्कृति और जीवन दर्शन में समरसता रखती हैं। हिन्दू जाति का संगठन तभी संभव था यदि उसके नेता दलित वर्गों की समस्याओं और कठिनाइयों का तत्काल समाधान ढूंढ़ते और शताब्दियों से पीड़ित तथा ठुकराये गए इन लोगों को उनके अधिकार प्रदान करते।

शुद्धि आन्दोलन

इसी प्रकार कारणवश अन्य मतों में चले गए लोगों को अपने धर्म में प्रविष्ट करने के लिए चलाये गये शुद्धि आन्दोलन की सफलता भी संगठन का एक साधन बन सकती थी। अतः अब स्वामी श्रद्धानन्द का समस्त ध्यान, शुद्धि, अछूतोद्धार तथा सामाजिक कुरीतियों के निवारण जैसे कार्यक्रमों पर ही लगा। उनके प्रयासों को तब धक्का लगा, जब उन्होंने देखा कि संकीर्ण बुद्धि वाले सनातनी समाज को न तो अछूतों को उनका प्राप्य देना ही पसन्द है और न वे शुद्ध होकर हिन्दू धर्म में प्रविष्ट लोगों को ही दिल खोल कर अपनाने के लिए तैयार हैं। यद्यपि पं० मदनमोहन मालवीय जैसे उदार नेताओं के प्रभाव में आकर अधिकांश हिन्दुओं ने अछूतोद्धार तथा शुद्धि के कार्यक्रम को माना तो अवश्य, किन्तु श्री भारती कृष्णतीर्थ तथा अन्य पौराणिक नेताओं ने आर्यसमाज के प्रति अपनी मात्सर्य वृत्ति का ही परिचय दिया। उन्हें आशंका थी कि इन कार्यक्रमों को सफल बना कर आर्यसमाज अपने प्रभाव की वृद्धि कर रहा है। स्वामी श्रद्धानन्द के लिये यह सर्वथा अनपेक्षित था और अब वे हिन्दू महासभा से भी निराश हो गये।

अन्ततः उन्होंने कवि गुरु की 'एकला चलो' की नीति ही अपनानी पड़ी। अब वे अपने कार्यक्रमों के लिये आर्यसमाज के लोगों पर ही निर्भर हो चले और सभी के सहयोग से उन्होंने शुद्धि और संगठन का शंखनाद किया। इन कार्यक्रमों में महात्मा हंसराज के नेतृत्व में कालेज दल ने भी उन्हें पूरा-पूरा सहयोग दिया कि ऋषि दयानन्द के अनुयायी धर्म और समाज के व्यापक हित में कंधे से कंधा मिलाकर आगे बढ़ सकते हैं। ऐसे कर्मयोगी श्रद्धानन्द का जीवन जितना शानदार था, उनकी मृत्यु भी उतनी ही गौरवशालिनी थी, जिस पर महात्मा गांधी को भी ईर्ष्या करनी पड़ी।

स्वामी श्रद्धानन्द : एक अनुपम व्यक्तित्व

लेखक : स्व. क्षितीश वेदालंकार

पाश्चात्य सभ्यता ने हमें यह सिखाया है कि यदि आदमी का बाहरी रूप, रंग वेष-विन्यास, बोल-चाल और रहन-सहन देखने में ठीक-ठाक हो, तो वह आदमी सभ्य कहलाने के योग्य है। उसके मानसिक विचार कैसे हैं और उसका आन्तरिक तथा घरेलू जीवन कैसा है, इससे किसी को क्या वास्ता ! इसी से आधुनिक सभ्य समाज में यह परम्परा चल पड़ी है कि किसी व्यक्ति के "प्राइवेट लाईफ" की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए, केवल उसका सामाजिक जीवन ही हमारी चर्चा का विषय हो सकता है। खोजी पत्र-कारिता के आजकल के युग में जब राजनेताओं के निजी जीवन के सम्बन्ध में नित्य नये विस्फोट होते हैं। तब सभ्यता के उक्त आधुनिक सूत्र की ओट ही सबसे अधिक ली जाती है। परन्तु भारतीय सभ्यता इस .... के पक्ष में नहीं है। उसने तो सज्जनता की कसौटी यही निर्धारित की है। कि जो मन वचन और कर्म में एक जैसा हो, जिसकी कथनी और करनी में कोई अन्तर न हो, जिसका अन्दर और बाहर परस्पर विरोधी न हो, जिसके सामाजिक और घरेलू जीवन में विरोध दिखाई न दे, वही सज्जन है। नीतिकारों ने कहा है-

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्।।

आधुनिक राजनैतिक नेताओं को 'दुरात्मा' कहने की हिम्मत तो नहीं होती, भले ही मन-वचन और कर्म में असामंजस्य को ही वे अपनी राजनीति-निपुणता समझते हैं। कभी-कभी तो वे अपने मन में इस बात पर गर्व करते हुए प्रतीत होते हैं कि हमने जनता को कैसा बेवकूफ बनाया है। परन्तु ऋषि दयानन्द और उनके शिष्यों की लम्बी श्रेणी पाश्चात्य सभ्यता के उक्त उद्घोष को सबसे अधिक अनर्थकारी मानती है। इस दृष्टि से यदि ऋषि दयानन्द अनुपम और अद्वितीय थे, तो अपने आपको ऋषि का शिष्य कहने में गर्व अनुभव करने वाले और उनकी प्रेरणा से ही कुपथ से निकल कर सुपथ पर चलने वाले स्वामी श्रद्धानंद भी अनुपम और अद्वितीय थे। देव दयानन्द ने कितनी पतित आत्माओं का उद्धार किया और उन्हें इतिहास में स्मरणीय बनाया, इसकी गिनती करना कठिन है। स्वामी श्रद्धानंद ने अपनी आत्मकथा में, जो कल्याण मार्ग के पथिक

के नाम से जीवनी साहित्य का अद्‌भुत ग्रन्थ है अपने मद्यपान के त्याग के एक प्रसंग का वर्णन करते हुए अपने गुरु के आध्यात्मिक प्रभाव का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं -

"पुराने अभ्यास के अनुसार यह सूझी कि शेष बोतल समाप्त करके सदा के लिये उसके प्रलोभन से मुक्त हो जाऊँ। इस विचार से पूरा बड़ा गिलास भरा ही था कि मानसिक दृष्टि के सामने से एक पर्दा उठा और यतिवर दयानन्द की विशाल मूर्ति कौपीन लगाए, शरीर में भभूत रमाए और हाथ में मोटा लट्ठ लिये सामने आ खड़ी हुई। ऐसा लगा मानो महात्मा कह रहे हैं- "क्या अब भी परमेश्वर पर तेरा विश्वास न होगा ?" मैंने आँखें मलीं, मूर्ति कहीं सामने न थी। परन्तु हृदय काँप गया। गिलास उठाकर जो फेंका तो सामने की दीवार में लगकर चूर-चूर हो गया। फिर बोतल उठाकर जोर से फेंकी वह भी दीवार से टकराकर टुकड़े-टुकड़े हो गई।

योगिराज दयानंद की इसी छवि ने मुंशीराम को अनेक स्थानों पर पतन के मार्ग से बचाया इसीलिए अपने गुरु को श्रद्धा सहित स्मरण करते हुए उन्होंने लिखा था-

"ऋषिवर, तुम्हें भौतिक शरीर त्यागे अब (सन् १९२५ में) ४२ वर्ष हो चुके, परन्तु तुम्हारी दिव्य मूर्ति मेरे हृदय पटल पर अब तक ज्यों की त्यों अंकित हैं। मेरे निर्बल हृदय के अतिरिक्त कौनमरण धर्मा मनुष्य जान सकता है कि कितनी ही बार गिरते-गिरते तुम्हारे स्मरण मात्र ने मेरी आत्मिक रक्षा की है। तुमने कितनी ही आत्माओं की काया पलट दी, इसकी गणना कौन मनुष्य कर सकता है। परमात्मा के बिना, जिनकी पवित्र गोद में तुम इस समय विचर रहे हो, कौन कह सकता है कि तुम्हारे उपदेशों से निकली हुई अग्नि से संसार में प्रचालित कितने पापों को दग्ध कर दिया, परन्तु अपने विषय में मैं कह सकता हूं कि तुम्हारे सहवास ने मुझे किसी गिरी हुई अवस्था से उठाकर सच्चा जीवन-लाभ करने योग्य बनाया। भगवन्, मैं तुम्हारा ऋणी हूं मुझे अपना सच्चा शिष्य बनने की शक्ति प्रदान करें।"

स्वामी दयानन्द की कथनी और करनी में कैसी एकरूपता थी, इसके अनेक उदाहरण उनके जीवन से दिये जा सकते हैं। वे अपनी मान्यताओं के कितने पक्के थे और उसके लिये बड़ी से बड़ी कुर्बानी करने को तैयार रहते थे, इसके उदाहरण भी उनके जीवन में भरे पड़े हैं। परन्तु जिस अनुपमता की ओर हम पाठकों का ध्यान

खींचना चाहते हैं। वह और हैं।

महात्मा गांधी और स्वामी श्रद्धानन्द में परस्पर कितना स्नेह था इसकी कल्पना संभवतया आज की पीढ़ी को नहीं होगी। महात्मा गांधी को "महात्मा" के पद से सुशोभित करने वाले सबसे पहले महात्मा मुंशीराम ही थे। उसके बाद तो महात्मा गांधी के साथ "महात्मा" शब्द ऐसे चस्पां हो गया जैसे वह गाँधी का पर्यायवाची ही हो। महात्मा गाँधी उनको हमेशा अपने बड़े भाई का सा आदर देते थे। जब गाँधी जी पहली बार दक्षिण अफ्रीका से भारत आये थे तो अपने आश्रमवासी छात्रों के साथ सीधे गुरुकुल कांगड़ी ही पहुंचे थे और वहाँ जाकर उन्होंने महात्मा मुंशीराम का चरण स्पर्श किया था। उसके बाद कई महीने तक गाँधी जी के फोनिक्स आश्रम के वे विद्यार्थी गुरुकुल कांगड़ी में ही रहे और गुरुकुल के वातावरण से तथा महात्मा मुंशीराम जी के स्नेह से वे इतने ओतप्रोत हो गये थे कि गांधी जब भी स्वामी जी को पत्र लिखते तो वे हमेशा यही कहते कि मेरे आश्रम में कब आयेंगे। गांधी जी का यह प्रेम ही स्वामी श्रद्धानन्द को राजनीति में खींच लाया था और वे सत्याग्रह आन्दोलन के प्रमुख नेता और महान् स्वतन्त्रता सेनानी बने थे।

सन् १९१९ में जब अमृतसर में कांग्रेस का अधिवेशन करने का निश्चय हुआ तब यह समस्या खड़ी हुई कि स्वागताध्यक्ष कौन बने। जालियांवाला बाग में जैसा भीषण हत्याकाण्ड हो चुका था उसके कारण जनता बहुत क्षुब्ध और त्रस्त थी और ऐसे वातावरण में अन्य कोई भी नेता स्वागताध्यक्ष बनने को तैयार नहीं था। अन्ततः स्वामी जी से अनुरोध किया गया तो उन्होंने स्वीकृति देने से पूर्व गांधी जी की स्वीकृति प्राप्त करना उचित समझा और उन्हें पत्र लिखा गांधी जी ने उसका उत्तर इस प्रकार दिया-

"यदि आप स्वागत समिति के सभापति हो जायेंगे तो आप कांग्रेस में धार्मिक भाव पैदा करने में समर्थ हो सकेंगे। इसलिए आपको स्वागत समिति का सभापति होना ही चाहिए। यही सलाह मैं आपको दे सकता हूं।"

कहना नहीं होगा कि कांग्रेस के अधिवेशन में पहली बार हिन्दी में भाषण देने वाला और अछूतोद्धार की चर्चा करने वाला यदि कोई राजनेता हुआ तो वह केवल स्वामी श्रद्धानंद थे। उसके बाद जब गाँधी जी ने खिलाफत आन्दोलन के नाम से सत्याग्रह

चलाया तो स्वामी श्रद्धानन्द उसमें सहर्ष शामिल हो गये और खिलाफत कमेटी के अध्यक्ष भी बने। उसी दौरान जामा मस्जिद के मेम्बर से वेदोपदेश देने का सौभाग्य भी आज तक यदि किसी गैर मुसलमान को मिला तो वे केवल स्वामी श्रद्धानंद थे। हिन्दू-मुस्लिम एकता के वे इतने प्रबल पक्षधर थे कि 'हम' शब्द की व्याख्या में वे 'ह' से हिन्दू और 'म' से मुसलमान अर्थ करते थे।

पाठकों को आश्चर्य होगा जब टर्की में कमालपाशा विजयी हुआ यहां मस्जिदों में दीवाली मनाई गई। स्वामी श्रद्धानंद ने भी अपने निवास स्थान पर खुशी के मारे दीपकों की पंक्ति प्रज्ज्वलित की। एक प्रतिष्ठित व्यक्ति ने उनसे पूछा- स्वामी जी आपने यह क्या कर रखा है.? स्वामी जी ने गम्भीरता से जवाब दिया 'हमें मुसलमानों से या उनके धर्म से जरा भी द्वेष नहीं होना चाहिए। कमालपाशा की विजय न्याय की विजय है। अतः यह हमारी भी विजय है। परन्तु उसी स्वामी श्रद्धानंद ने जब मौलाना मौहम्मद अली और शौकत अली के बयान पढ़े और उनको यह लगा कि खिलाफत के नाम से ये लोग भारत में पुनः इस्लामिक सल्तनत का स्वप्न देखते हैं तो उन्होंने खिलाफत कमेटी से इस्तीफा देने में भी देर नहीं लगाई।

उसके बाद जब स्वामी जी ने अछूतोद्धार का प्रोग्राम कांग्रेस के प्रोग्राम में प्रयत्नपूर्वक शामिल करवाया परन्तु कांग्रेसी नेताओं की इन प्रोग्रामों के प्रति उपेक्षा देखी, तो उन्हें कांग्रेस की कार्यसमिति से इस्तीफा देने में भी देर नहीं लगी। तदन्तर वे हिन्दू महासभा में शामिल हुए। परन्तु जब अछूतोद्धार के प्रति हिन्दू नेताओं को भी उन्होंने ईमानदार नहीं पाया तो स्वामी श्रद्धानन्द ने हिन्दू महासभा भी छोड़ दी।

कथनी और करनी की ऐसी एक रूपता किसी अन्य राजनेता में तो दिखाई नहीं देती। अनुपम गुरु का यह अनुपम शिष्य भावी पीढ़ी के लिए सही और सच्चा मार्ग दिखा गया है।

-२५ दिसम्बर १९८८ के साप्ताहिक
'आर्यजगत्' से साभार।

दो संतों की प्रगाढ़ता : पत्रों के झरोखों से

डॉ० विनोदचन्द्र विद्यालंकार
पंतनगर-263145

फरवरी १६११, गुरुकुल कांगड़ी के संस्थापक महात्मा मुंशीराम को दिल्ली के एक महाविद्यालय में "ब्रह्मचर्य का महत्व" विषय पर व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया गया। उसी महाविद्यालय में श्री सी.एफ.एण्डूज भी पढ़ाते थे। व्याख्यान की समाप्ति पर श्री एण्डूज महात्मा जी से मिलने आये। प्रथम भेंट में ही वे दोनों एक दूसरे के विचारों से प्रभावित हुए। इसके बाद श्री एण्डूज इंग्लैण्ड चले गये। जब वे पुनः भारत आये तो उन्होंने २१ जनवरी १६१३ को महात्मा मुंशीराम को एक पत्र लिख कर उनसे मिलने की इच्छा व्यक्त की :

"मेरे प्यारे महात्मा जी, जब से हम दिल्ली में मिले हैं तब से मैं आपसे मिलने के लिए अत्यन्त लालायित हूँ। हालांकि मैं इस समय अस्वस्थ हूं, पर मुझे विश्वास है कि आपके साथ मैं पूर्ण स्वस्थ एवं प्रसन्न रहूंगा।"

इस पत्र को पाते ही महात्मा मुंशीराम ने श्री एण्डूज को गुरुकुल आने का औपचारिक निमंत्रण भेज दिया। तदुपरांत श्री एण्डूज सेंट स्टीफेन्सन कॉलेज दिल्ली के प्रिंसिपल श्री सुशीलकुमार रुद्र के सुपुत्र सुधीर रुद्र के साथ गुरुकुल पधारे और कुछ दिन वहां निवास किया। इस निवास-काल में श्री एण्डूज महात्मा मुंशीराम और गुरुकुल से इतने अधिक प्रभावित हुए कि वे महात्मा जी को अपने संपर्क में आये भारतीयों में सर्वोत्कृष्ट और उनके दृष्टिकोण को असाधारणरूप से कहीं अधिक व्यापक मानने लगे थे। श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर को लिखे एक पत्र में उन्होंने एतद्विषयक अपने उद्गारों को कुछ इस प्रकार व्यक्त किया : "मैं कुछ सप्ताह से हरिद्वार गुरुकुल में रह रहा हूँ। महात्मा मुंशीराम अब तक मेरे संपर्क में आये भारतीयों में सर्वोत्कृष्ट हैं और उनका दृष्टिकोण आर्यसमाज के सामान्य आदर्श की अपेक्षा असाधारण रूप से कहीं अधिक व्यापक है। यही कारण है कि उनके साथ रहने की मेरी उत्कण्ठा अधिक प्रबल हो गयी है। दूसरी एक सामान्य सी बात यह हुई है कि मैं अब विशुद्ध शाकाहारी हो गया हूँ और इससे मुझे बहुत अधिक लाभ भी हुआ है। शाकाहारी न होने के कारण स्वास्थ्य

खराब रहने की जो समस्या उग्र रूप में आ खड़ी होती थी, वह संभवतः अब समाप्त हो गयी है। मैंने यह सब महात्मा जी, आप और श्री बिल्ली पीयर्सन के अलावा अन्य किसी को नहीं बतायी है, हालांकि श्री रुद्र इस बारे में थोड़ा-बहुत जानते हैं।"

यही नहीं, महात्मा मुंशीराम जी के प्रेमपूर्ण व्यवहार और गुरुकुल के वातावरण ने श्री एण्ड्रूज के मानस-पटल पर ऐसा घर कर लिया कि गुरुकुल से लौटने के बाद भी वे उसे याद करते रहे। यह तथ्य उनके द्वारा २० अप्रैल १९१३ को महात्मा मुंशीराम जी को लिखे गये पत्र की निम्न पंक्तियों से स्वतः पुष्ट होता है :

"मैं आज सारे दिन आपको याद करता रहा और अब शाम के समय आपको विशेष रूप से स्मरण कर रहा हूँ। प्रिय महात्मा जी, मैं बता नहीं सकता कि मैं आपको कितना अधिक प्यार करता हूँ, परन्तु आप इसे बिना कहे ही समझ सकते हैं। मैं यह नहीं कह सकता कि यह महान् प्रेम कहां से उत्पन्न हुआ है, वस्तुतः यह परमात्मा की देन है और इसके लिए मैं उसका धन्यवाद करता हूँ, क्योंकि यह उसके हाथों से अब तक प्राप्त उपहारों में सर्वश्रेष्ठ है।"

प्रिंसिपल रुद्र के पुत्र सुधीर पर भी गुरुकुल के रहन-सहन आदि का अमिट प्रभाव पड़ा था। श्री एण्ड्रूज के शब्दों में :

"सुधीर ने मुझे बताया है कि गुरुकुल - निवास के दौरान वहां के वातावरण ने उसके मन पर जो अमिट छाप छोड़ी है, वैसी उसके संपूर्ण जीवन में किसी अन्य चीज से नहीं पड़ी। उसके हृदय में मातृभूमि भारत के लिए प्रेम की जो चिनगारियां अस्फुट रूप से निकल रही थीं, गुरुकुल जाकर वे ज्वाला रूप में प्रकट हो गईं। गुरुकुल के आदर्शों तथा आपके प्रति श्रद्धा का जो ज्वार उसके हृदय में उमड़ पड़ा है, वह वर्णनातीत है। अभी तक उसके मन की यह अवस्था है, यद्यपि परीक्षाएं निकट हैं, तथापि उसका हृदय उन्हीं दिव्य अनुभूतियों में ऐसा ओतप्रोत है कि वह उनके अतिरिक्त अन्य किसी बात में अभीरुचि नहीं दिखाता। सुधीर को आपके शिष्यों से जो स्नेह और पवित्र संवेदन मिला, वह उसे शब्दों में व्यक्त नहीं कर पाता। (श्री एंण्ड्रूज द्वारा महात्मा जी को २१ अप्रैल १९१३ को लिखे पत्र का अंश)

इस पत्र को पाकर महात्मा मुंशीराम जी गदगद हो गये और उन्होंने २५ अप्रैल,

१६१३ के पत्र द्वारा अपने जीवन-निर्माण का सार श्री एण्ड्रूज के समक्ष प्रकट करने में तनिक भी संकोच नहीं किया :

"आपका २१ अप्रैल का पत्र पाकर मुझे वह प्रसन्नता हुई जो पिछले २८ वर्ष के कार्यकाल में कदाचित् ही हुई होगी। शायद आपको नहीं मालूम कि मैं होश संभालने के बाद ६ वर्ष तक नास्तिक था। तब ईश्वरीय कृपा से एक दिन अकस्मात् महर्षि दयानन्द के दिव्य दर्शन ने मेरी अंधकारपूर्ण अंतरात्मा को नया प्रकाश दिया। मैंने अपने संशय ऋषि दयानन्द के सामने प्रकट किए। जब मैंने कहा- "मेरा मन अब भी संशयालु है", तो ऋषि ने उत्तर दिया- "तुमने प्रश्न पूछे थे, मैंने प्रश्न का उत्तर दे दिया। मैंने यह नहीं कहा था कि तुम्हारे हृदय में विश्वास पैदा कर दूंगा। विश्वास की ज्योति जगाना तो प्रभु का ही कार्य है। उसकी ही कृपा होगी तो वह तुम्हारे हृदय में श्रद्धा की ज्योति जगायेगा। और सचमुच अब वह समय आ गया कि मेरे मन में प्रभु के प्रति जो असीम श्रद्धा है, वह शब्दों में व्यक्त नहीं हो सकती। संघर्ष मेरे जीवन का अंग बन चुका है। आर्यसमाज के कार्यक्षेत्र में मेरा जीवन पूर्णतया संघर्षमय हो गया है। दिव्य जगन्माता को ही मालूम है कि पिछले २८ वर्षों में मुझे कितने कठोर प्रहारों से जूझना पड़ा। आपके पवित्र हृदय से निकले शब्दों ने भी मेरे २८ साल के संतप्त हृदय पर मरहम का काम किया है। मेरी आत्मा को आपके निश्छल स्नेह से असीम सात्विक आनन्द प्राप्त हुआ है। यह भी जगन्माता का आशीर्वाद है। आज मैं फिर यह मानता हूँ, कि मेरी २६ वर्ष की तपस्या सार्थक हुई है।"

महात्मा जी के इस पत्र के उत्तर में श्री एण्ड्रूज ने "मेरे प्रियतम मित्र" संबोधन के साथ अपने स्नेहोद्‌गारों की अभिव्यक्ति कुछ यों की :

"आशा है आप मुझे इस संबोधन का अधिकार देंगे। इन शब्दों को संबोधित करते हुए मेरा हृदय अपार आनन्द प्राप्त करता हैं सुधीर को आपकी निकटता से जो नवीन दृष्टि मिली है, उसे पाकर वह बहुत प्रसन्न है और स्वयं को सौभाग्यशाली मानता है। कितनी ही बार उसने मेरे सामने उस अनुभव को दोहराया है। उसने यह भी कहा- "गुरुकुल-यात्रा की वह स्मृति, मेरे लिए इतनी आल्हादकारी बन गई है कि यदि मैं परीक्षा में हजार बार भी फेल हो जाऊँ, तो भी उस स्मृति का सुखद प्रकाश धुंधला नहीं होगा।"

मेरा विश्वास है कि आपके हृदय में प्रभु की ज्योति का जागरण उन नन्हें बालकों के प्रेम से ही हुआ है जिन्हें आप पिता बनकर पाल रहे हैं। मैंने देखा है कि अपने आश्रम के नन्हें बच्चों के साथ आपका कितना प्रगाढ़ प्रेम है। मुझे भी अपने हृदय में कई बार बड़े रूखेपन का आभास होता है। किन्तु आपके निकट आते ही मुझे हृदय में नयी ताजगी और नए प्राण-संचार की अनुभूति होती है। जीवन में आनन्द का परम वही है, जब साक्षात् प्रेममूर्ति प्रभु का संकेत पाकर आप मुझे मुग्ध हृदय से अपनी स्नेह भुजाओं में आबद्ध करते हैं, और पूरे विश्वास के साथ मुझे अपने आनन्द का भागी बनाते हैं। उस समय भी आपकी समीपता से प्रभु-दर्शन का आनन्द मिलता है। जबसे आपके पास रहकर वापस आया हूँ, तब से कई बार कई प्रकार की परेशानियों ने दु:खित किया है। पर वह दु:ख मन में ही दब जाता है। मेरा अंतर्मन आज भी आपकी पवित्र स्नेहस्मृति से खिल उठता है। इस दिव्य अनुभूति के लिय धन्यवाद का कोई भी शब्द पर्याप्त नहीं है । यही कह सकता हूँ कि मैं जब भी, जैसे भी हो, सभंव हो , गुरुकुल की योग्य सेवा करने में अपने को धन्य मानूंगा इस पत्र के शब्दों में मैंने जो भाव व्यक्त किए हैं, वे केवल हृदय के क्षणिक उद्गार नहीं है, बल्कि गहरे और स्थायी विचार हैं। समय उसका साक्षी होगा। ....उन दिनों की सुखद स्मृति आज भी मेरे हृदय को नयी ताजगी से भर देती है।"

महात्मा मुंशीराम और श्री एण्डूज का यह पत्राचार यहीं समाप्त नहीं हो गया, वरन् इसके बाद भी निरन्तर चलता रहा। स्नेह घनिष्ठता में बदलता गया। इसी का परिणाम था कि एण्डूज दुनियाँ के चाहे किसी भी कोने में रहे, महात्मा जी को वे बराबर याद करते रहे। उनके पत्र पूर्ण अपनत्व भरे होते थे। महात्मा जी पत्र की शुरुआत "माई डियर चार्ली" से और समाप्ति "युअर डियर राम" से करते थे। जबकि श्री एण्डूज "माई डियर राम" से शुरू करके "युअर डियर चार्ली" से समाप्त करते थे।

महात्मा मुंशीराम के पत्र को पाकर श्री एण्डूज कितने अधिक आनन्दविभोर हो जाते थे, यह उनके निम्न पत्रों से ज्ञात होता है।

"ओह! आपका वह पत्र मेरे लिए कितना अधिक बहुमूल्य था। इसका शब्द-शब्द आपके प्रेम से अनुप्राणित था। आपके प्रेमपूर्ण भाव इससे झलक रहे थे और मेरे भावों के साथ मिल गये थे। मैंने बार-बार प्रार्थना की कि मैं स्वयं को आपके महान् प्रेम के योग्य बना सकूँ।"

श्री एण्डूज कुछ सप्ताह के लिए शांति निकेतन गये थे। वहाँ भी दीनबंधु अपने "राम" के प्रेम को नहीं भूले : "मैं आपको अपना बड़ा भाई मानता हूँ और अनुभव करता हूँ कि आप भी मुझे उसी तरह प्यार करते हैं जिस तरह एक बड़ा भाई छोटे भाई को प्यार करता है। आपका यह प्यार वस्तुतः माँ के प्रेम की तरह अनमोल है।.....उस रात जब मुझे बुखार था। आपकी सेवा सुश्रूषा से मुझे ऐसा महसूस हो रहा था कि मानो मेरे कष्ट-निवारण और सान्त्वना देने के लिए मेरी अपनी माँ मेरे बिस्तर के पास खड़ी हुई हो।"

सन १६१३-१४ मे दक्षिणी अफ्रीका में महात्मा गांधी के नेतृत्व में वहाँ रहने वाले भारतीयों को अधिकार दिलवाने के लिए एक सत्याग्रह-आन्दोलन छेड़ा गया था। यह सत्याग्रह गोरे दक्षिण अफ्रीका-निवासियों द्वारा बरती जाने वाली नृशंस भेदभाव की नीति के विरोध में चलाया गया था। भारत मे जब इस आन्दोलन का समाचार पहुँचा तो श्री गोपालकृष्ण गोखले ने धन सग्रंह के लिए एक अपील निकाली। इस अपील ने जहाँ भारतीय जनता के दिलों को झकझोर दिया, वहीं भारत में रहने वाले अनेक विदेशी भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। उनमें से एक दीनबंधु एण्डूज भी थे, जो इस अपील को पढ़कर घोर व्यथा अनुभव करने लगे थे। उन्होंने २८ अक्टूबर १६१३ को अपने मित्र मुंशीराम को एक पत्र लिख कर अपनी मनोव्यथा का चित्रण किया थाः

"मैं आपको बता नहीं सकता कि कैसे दिन-रात वह अपराध-बोध मेरी अंतरात्मा को प्रताड़ित कर रहा है। पिछली रात मैं उसके भयावह परिणामों पर सोच-सोच कर जागता रहा। मै ट्रांसवाल-कारावास की भयावहता का बहादुरी से सामना कर रही उन हिन्दू वीरांगनाओं के बारे में सोचता रहा......पहले-पहल मेरी समस्या नव-अर्जित शांति आक्रोश के तूफान मे लुप्त होती प्रतीत हुई.....और तदुपरान्त इस सबके आश्चर्य परिणाम मेरे सामने आये। अंशतः ये श्री गोखले के उच्च प्रेरणादायी विचारों के माध्यम से मुझ तक पहुँचे। जिन्होंने उन भुक्तभोगियों के शौर्य की ऐसी सुसंतुलित तस्वीर सामने रखी कि मैंने सच्चे भारत की, आर्य भारत की, उपनिषदों और गीता के भारत की उस चेतना के सामने आभार के साथ अपना सिर झुका लिया.....वह चेतना जो आज भी जीवित है और कमजोर, तिरस्कृत गिरमिटिया कुलियों तक में सांस ले रही है। केवल धार्मिक और परम्परागत ईसाइयत की परतें एक-एक करके गिरती जा रही

हैं और मैं ईसा से पहले से कहीं अधिक निकट होता जा रहा हूँ, और यह भावना मेरे अन्दर आदर्श हिन्दू भारत के दिनों दिन होने के फलस्वरुप आई है जिसे मैं जब कभी इसके वास्तविक रूप में प्रदर्शित हुआ देखता हूँ......और वही चेतना है जिसने रवीन्द्रनाथ और उनके सरल और उदार आदर्श जीवन को मेरे लिए इतना मूल्यवान् बना दिया....और जिसने मुझे भारत के लोगों को एक नई दृष्टि से देखने का अवसर दिया.... मैं हृदय से इच्छा करता हूँ अपने वर्तमान देशवासियों के समस्त रुढ़ियों से मुक्त होने की, ताकि मैं ऐसे एक सम्पूर्ण स्वतन्त्रता के मार्ग का अनुसरण कर सकूँ जहाँ केवल सत्य ही अग्रणी रहे।"

२ जनवरी १९१४ को श्री एण्डूज डरबन पहुंचे। बंदरगाह पर उनके स्वागत के लिए श्री हेनरी पोलक, महात्मा गांधी आदि अनेक गणमान्य व्यक्ति उपस्थित थे। श्री एण्डूज ने गांधी जी को पहले कभी नहीं देखा था, अतः उन्होंने श्री पोलक से पूछा कि क्या गांधी जी भी आये हैं। इस पर श्री पोलक ने उनका गांधी जी से परिचय कराया। महात्मा गांधी से हुई इस भेंट का वृत्तांत श्री एण्डूज ने श्री मुंशीराम को इस प्रकार लिखाः

"उन्होंने (श्री पोलक ने) तपस्वियों की तरह की एक ऐसी आकृति की ओर इशारा करके बतलाया कि "गांधी जी ये हैं" जिसका सिर मुंडा हुआ था, जो ऐसे मोटे कपड़े का सफेद धोती-कुर्ता पहने थे, जैसा कि कोई गिरमिटिया श्रमिक पहनता है और जो ऐसी दिखलाई पड़ रही थी मानो शोक में हो। मैं तत्काल सहज भाव से झुक गया और उनके (गांधी जी के) चरण-स्पर्श कर लिये। इस पर उन्होंने मन्द स्वर में कहा कि "कृपया ऐसा न करें, यह मेरे लिए अपमानजनक है।"

इस प्रथम भेंट के साथ ही श्री एण्डूज और गांधी जी में एक दूसरे के प्रति आकर्षण उत्पन्न हो गया और मैत्री स्थापित हो गई यही नहीं, महात्मा गांधी जी ने तो उन्हें अपना परामर्शदाता भी मान लिया और अफ्रीकी सत्याग्रह के बारे में भावी रणनीति का निर्धारण उन्हीं की सलाह से करने लगे। यद्यपि श्री एण्डूज अफ्रीका में गांधी जी के निकट संपर्क में आते जा रहे थे। और उनके मन में अपने इस नये मित्र के प्रति श्रद्धा और प्रेम भी उत्पन्न होता जा रहा था, पर वह अभी उस सीमा तक नहीं पहुंच पाया था जितना कि गुरुदेव रवीन्द्रनाथ, सुशील व रुद्र और महात्मा मुंशीराम के प्रति था। यही कारण था कि वे सशरीर अफ्रीका में रहते हुए भी चिन्तन एवं कल्पनालोक में वे हर

पल अपने से हजारों मील बैठे अपने मित्रों टैगोर तथा "राम" के साथ ही विचरण किया करते थे। उन्हीं के शब्दों में "मुझे इतनी अधिक घर की याद इससे पूर्व कभी भी नहीं आई....मैं प्रतिदिन प्रातःकाल ३.३० बजे से ६ बजे तक का समय आपके साथ व्यतीत करता हूँ।" यह है उस पत्र का एक अंश जिसे उन्होंने १५ जनवरी १९१५ को महात्मा मुंशीराम जी को लिखा था। इसी पत्र में आगे श्री एण्डूज ने गांधी जी द्वारा अफ्रीका में चलाये जा रहे सत्याग्रह के उद्देश्य तथा गांधी जी के प्रति अपने मनोभावों को कुछ इस प्रकार व्यक्त किया था :

श्री गांधी वस्तुतः (अपने लिए) कोई विशेष सुविधा प्राप्त करने के लिए नहीं लड़ रहे थे, वे इस अधिकार के लिए संघर्ष कर रहे हैं कि मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखा जाना चाहिए, न कि गुलामों के रूप में। मैं बता नहीं सकता कि मैं उनके प्रति कितनी श्रद्धा रखता हूं। अभी तक मैं यह नहीं कह सकता कि मैं उनसे उतना ही प्रेम करता हूं जितना की आपसे, गुरुदेव से और सुशील (रुद्र) से करता हूं, हालांकि यह उत्पन्न हो सकता है। परन्तु मैं उसका अब तक ज्ञात व्यक्तियों में सर्वाधिक वीर पुरुष के रूप में समादर करता हूं।"

श्री एण्डूज डरबन में ही थे। वे गांधी जी और अफ्रीकी सरकार के मध्य समझौता करवाने का प्रयास कर रहे थे। उनकी मां इंग्लैण्ड में बीमार थीं और उन्होंने उनसे वायदा किया था कि वे हर हालत में अप्रैल से पूर्व ही उनके पास पहुंच जाएंगे। अतः वे चाहते थे कि जल्दी से जल्दी समझौता हो जाये ताकि वे अपने वायदे के अनुसार मां के पास पहुंच सकें। समझौता हो गया और वे प्रिटोरिया से समझौते का सुखद समाचार लेकर डरबन पहुंचे। वे स्टेशन पर भारतीय जनसमुदाय से घिरे खड़े थे कि उन्हें किसी व्यक्ति ने उनके भाई का एक पत्र दिया जिसमें यह सूचित किया गया था कि मृत्युशय्या पर पड़ी उनकी मां जीवन की अन्तिम घड़ियां गिन रही हैं। इस आकस्मिक सूचना से श्री एण्डूज हतप्रभ से हो गये और उन्हें सारा स्टेशन घूमता-सा नजर आने लगा। पर वे अपनी पूज्य मां के दर्शन नहीं कर पाये, क्योंकि इंग्लैण्ड के लिए प्रस्थान करने से पूर्व ही उन्हें उनके स्वर्गवास का समाचार मिल चुका था, जिससे उन्होंने २६ जनवरी १९१४ को "केबल" द्वारा भारत में अपने अभिन्न मित्र मुंशीराम जी को भी अवगत करा दिया था।

श्री एण्ड्रूज को भारत से इतना अधिक प्रेम हो गया था कि वे भारत-भूमि को अपनी मातृभूमि मानते थे और उन्होंने अपना संपूर्ण जीवन भारत और भारतवासियों के लिए समर्पित करने का निश्चय कर लिया था। इपनी इस भावना से महात्मा मुंशीराम को अवगत कराते हुए उन्होंने अपने ७ अगस्त १६१३ के पत्र में लिखा :

"........ आपके माध्यम से मुझे इस अपनी प्यारी मातृ-भूमि के प्रति अत्यधिक गहन प्यार उत्पन्न हो सके. क्योकि अब वास्तव में यह मेरी है और जीवन-मृत्यु पर्यन्त . इसके प्रति समर्पित हूँ। मैं कभी-कभी सोचता हूँ परम दयालु परमात्मा ने मेरे अन्दर कभी भी विवाह करने की इच्छा उत्पन्न नही की और मैं अपना संपूर्ण प्यार इस प्यारी मातृभूमि को दे सकता हूँ।"

यही नहीं, वे अपनी पूज्या मां की मृत्यु के बाद उनकी आत्मा का वास भी भारत मे ही मानने लगे थे :

" मै पूज्या मां के चरणों में अपना दु:ख प्रकट कर सका तथा उस ईश्वर-प्रदत्त शांति को जान सका जिससे ज्ञान की प्राप्ति होती है। प्रियतम, उस समय आप अपने अकथनीय बहुमूल्य प्यार के साथ मेरे पास आये और मुझे सान्त्वना दी। तभी से शांति बनी हुई है........मुझे आनन्द की प्राप्ति हुई है।.....मुझे इलहाम हुआ है कि भारत पहिले से भी अधिक गहरे अर्थों में मेरी मातृभूमि है और भारतमाता के प्रति अपने प्रेम के द्वारा ही मैं अपनी स्वर्गीया माता की आत्मा को सन्तुष्ट कर सकूंगा। मैं पिता जी से मिलने के लिए इंग्लैण्ड जा रहा हूँ और वहाँ अपनी माता की कब्र पर फूल चढ़ाऊँगा। परन्तु उसकी आत्मा तो वहां न होगी। वह भारत में है, जो भारत लौटने पर बड़े प्रेम के साथ मेरा स्वागत करेगी।" (महात्मा मुंशीराम को संबोधित पत्र दिनांक २८ जनवरी १६१४ का एक अंश)

श्री एण्ड्रूज इंग्लैण्ड जाकर बर्मिंघम में अपने पिता से मिले, जो पत्नी-वियोग के दु:ख से अभिभूत होने के कारण अत्यधिक वृद्ध लगने लगे थे। तत्पश्चात् इस विश्वास के साथ उन्होंने भारत वापस लौटने का निश्चय कर लिया कि वे मातृभूमि (भारत) में अपनी स्वर्गीया माँ का अनवरत सान्निध्य प्राप्त कर सकेंगे। अप्रैल १६१४ के मध्य में उन्होंने भारत-भूमि में पदार्पण कर लिया। भारत आने पर वे अत्यधिक अस्वस्थ हो गये, जिस कारण चिकित्सा हेतु उन्हें मई के प्रथम सप्ताह में शिमला जाना पड़ा। वहां

पहुंचने पर उन्होंने पाया कि वायसराय हार्डिंग और निजी सचिव सर जेम्स बॉले के अलावा शेष इसाई-समाज में उन्हें उपेक्षा की नजर से देखा जा रहा है। इतना ही नहीं बल्कि उन्हें जाति-बहिष्कृत भी कर दिया गया। इस सबका कारण उनका इसाई-पादरी बने न रहना था। इससे श्री एण्डूज को कुछ खिन्नता तो हुई, पर किसी प्रकार का पछतावा नहीं हुआ है। अपने १८ मई १६१४ के महात्मा मुंशीराम जी को एक पत्र के माध्यम से इस स्थिति से अवगत कराते हुए लिखा था: "उन्होंने मुझे जाति से बहिष्कृत कर दिया है और अस्पृश्य व्यक्ति बना दिया है, परन्तु मैं इस "सम्मान" के लिए उनका अत्यधिक आभारी हूँ।"

इसके बाद जब श्री एण्डूज पंजाब विश्वविद्यालय की फैलोशिप से त्यागपत्र देने तथा विश्वविद्यालय के परीक्षकत्व का अंतिम कार्य सम्पन्न करने लाहौर गये तो वहां भी इसाई-धर्मावलम्बियों ने उनके साथ यही व्यवहार किया। उन्हीं के शब्दों में, "मैंने लाहौर के कैथीड्रल में एक धर्मोपदेश दिया, परन्तु इससे स्थिति और बिगड़ गई। उन्होंने कहा कि 'यह कोई घोषणा नहीं है, हम इससे भी अधिक कुछ चाहते हैं'। मुझे निश्चय है कि इस बारे में कुछ भी नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि मौन रहना चाहिए।......यदि मेरे कार्य इसाईयों जैसे नहीं हैं तो केवल शब्दों से स्वयं को इसाई कह कर मैं कभी भी इसाई नहीं बन सकता।"

सितम्बर १६१४ में श्री एण्डूज पुनः गम्भीर रुप से अस्वस्थ हो गये और उन्हें शिमला के वाकर हॉस्पिटल मे प्रवेश लेने का परामर्श दिया गया। अक्टूबर के प्रथम सप्ताह में वे शिमला पहुँच गये। इस बार भी उनके पुराने मित्र लार्ड हार्डिंग तथा बिशप लिफ्रॉय आदि तो उनसे मिलने आये, पर अन्य लोगों ने--- यहां तक कि कुछ घनिष्ठ मित्रों ने भी--- उनके प्रति पूर्ण विमुखता प्रदर्शित की। इसके साथ ही उन्हें इंग्लैण्ड से अपने पिता का भी दुःख एवं नाराजगी से भरा पत्र मिला, जो एण्डूज के पादरी न रहने से अत्यन्त क्षुब्ध थे। अपनी उस समय की मनःस्थिति का उल्लेख करते हुए श्री एण्डूज ने ६ अक्टूबर के आसपास महात्मा मुंशीराम जी को एक पत्र लिखा, जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

"यहां आने से मुझे मालूम हुआ कि जब से मैंने अपनी स्थिति स्पष्ट की है, तब से बिशप और दूसरे लोग मुझसे बहुत असन्तुष्ट हैं। उनका कहना है कि मैंने ईसाइयत को त्याग दिया है। मैंने उनको कह दिया है कि मैं पहिले की अपेक्षा अधिक सच्चा इसाई

बन गया हूँ। यही मैं बनना चाहता था। इंग्लैण्ड से भी इस संबंध में बहुत पत्र आये हैं। उनमें मेरे पिता जी का पत्र सबसे अधिक दुःखपूर्ण है। यह जान कर कि मैं पादरी नहीं रहा, उनका हृदय टूट गया है। वे बहुत वृद्ध हैं। इन बातों को वे नहीं समझ सकते। मैंने उनको बहुत दुःख पहुँचाया है। मैं स्वयं इसके लिए दुःखी हूँ। परन्तु मैं जानता था कि यह सब तो होगा ही और उसको सहन भी करना होगा। मुझे आपके अत्यन्त प्रेम का पूरा भरोसा है।"

इसी बीच श्री एण्डूज को पता चला कि मुंशीराम जी अस्वस्थ हैं। उन्होंने तत्काल अपने मित्र को भावुकता एवं विषाद से भरा एक पत्र (६ नवम्बर १९१४) लिखकर अपनी सहानुभूति व्यक्त कीः

"यह सब बहुत ही आश्चर्यजनक है, परन्तु कभी-कभी...... मुझे यह सोच कर सान्त्वना मिलती है कि ये वही कष्ट हैं जो जननी (मातृभूमि) को अपनी सन्तान के उद्धार और अपनी पावन भूमि के उत्थान के लिए उठाने पड़ते हैं। यह वही है सभी दुःखों को झेलने वाली मां जो विभिन्न देशों में कष्ट उठाती है और हमें भी---जो कि उसकी सन्तान हैं--- इसी रुप में उसके प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित करना चाहिए। इस समय मेरी मेज पर श्री मोहनदास गांधी, श्री गोपालकृष्ण गोखले, श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर और आपके पत्र रखे हुए हैं, और वे सभी कष्टों से भरे हुए हैं (इस समय सभी बीमार थे)। इस सबका क्या मतलब है ? इसका मतलब यह होना चाहिए कि यह सब आवश्यक है तथा दिव्य मां ने स्वयं हमें यह पवित्र अवसर प्रदान किया है।"

एक बार जब श्री एण्डूज को पता चला कि मुंशीराम जी को कतिपय कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है तो उन्होनें पत्र लिख कर उनसे यह आग्रह किया कि, "क्योंकि हम दोनों (चार्ली और मुंशीराम जी) भाई हैं इसलिए हमें एक दूसरे के कष्ट में भागीदार बनना चाहिए। मेरे प्रियतम भाई, इस सतत विपत्ति के समय मेरी सहानुभूति आपके साथ है, जिसका कि आपको सामना करना पड़ रहा है--- यह जननी (मातृभूमि) का भार है जिसे वह स्वंय वहन कर रही है और जिसमें भागीदार बनने के लिए उसने आपसे कहा है।...... यह मृत्यु से अमरता तक, अंधकार से प्रकाश तक हर समय आपके साथ हैं।"

इस प्रकार श्री एण्डूज और महात्मा मुंशीराम व्यक्तिगत संपर्क एवं पत्रों के माध्यम से एक दूसरे के सुख-दुःख में भागीदार बनते रहे, परस्पर अमिल स्नेह बरसाते रहे, विचारों का आदान - प्रदान करते रहे तथा उनमें प्रगाढ़ता निरन्तर बढ़ती रही।

सद्धर्म प्रचारक में शिक्षा-विषयक चिन्तन

मुम्बई मे आर्यसमाज की स्थापना के तीन वर्ष पश्चात् ही आर्यसमाज शाहजहाँपुर से आर्य विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाला एक द्विभाषी (हिन्दी-उर्दू) साप्ताहिक 'आर्यदर्पण' प्रकाशित हुआ। स्वामी दयानन्द ने आर्यदर्पण की प्रशंसा मे एक विज्ञप्ति भी प्रकाशित करवाई थी। जुलाई १८७६ में फर्रुखाबाद मे आर्यसमाज की स्थापना के साथ ही यहाँ से हिन्दी मासिक पत्र "भारत सुदशा प्रवर्तक" भी निकलना आंरभ हुआ। जुलाई १६१२ में यह साप्ताहिक होने के पश्चात् अप्रैल १६१५ के बाद यह गौरवशाली पत्र बन्द हो गया। यह पत्र राष्ट्रभाषा हिन्दी का कट्टर समर्थक था। इसकी प्रतियाँ आर्यसमाज लन्दन को भी भेजी जाती थीं। इसके पश्चात् आर्यसमाज से संबंधित संस्थाओं द्वारा अनेक पत्र-पत्रिकायें प्रकाशित हुई हैं और हो रही हैं।

स्वामी श्रद्धानन्द ने जो पत्र, पत्रिकायें संपादित या प्रकाशित की हैं, उनमें- सद्धर्म प्रचारक, श्रद्धा, सत्यवादी, दि गुरुकुल मैगजीन, वैदिक मैगजीन एंड गुरुकुल समाचार तथा अर्जुन प्रमुख हैं। "अर्जुन" का प्रकाशन ३० अप्रैल १६२३ को दिल्ली से दैनिक पत्र के रुप में हुआ था। इसके संपादक पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति थे। इसका प्रतिज्ञा वाक्य था -"अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्"। "सद्धर्म प्रचारक" का प्रकाशन १६ फरवरी १८८६ में एक उर्दू साप्ताहिक के रूप में जालन्धर से हुआ। इसका संपादन मुंशीराम एवं लाला देवराज संयुक्त रूप से कर रहे थे। एक मार्च १६०७ में यह जालन्धर से ही हिन्दी साप्ताहिक के रूप में प्रकाशित होने लगा। अप्रैल १६०८ से यह पत्र गुरुकुल कांगड़ी से प्रकाशित होने लगा। इसका संपादन पं० ब्रहमानन्द, पं० हरिश्चन्द्र एवं पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने भी किया। यह पत्र १६२१-२२ तक निकलने के पश्चात् बन्द हो गया।

सद्धर्मप्रचारक के शिक्षा विषयक लेखों का हम-गुरुकुल शिक्षा, पाश्चात्य शिक्षा एवं स्त्री शिक्षा के अन्तर्गत चिन्तन कर सकते हैं। साथ ही इसमें शिक्षा क्यों और कैसे दी जाए? इस विषय पर भी चिन्तन किया गया है।

गुरुकुलीय शिक्षा का अर्थ है-आर्ष[1] ग्रन्थों की शिक्षा। सामान्यतया इसके अन्तर्गत

१- ऋषति गच्छति प्राप्नोति जानाति वा स ऋषि। मन्त्रार्थद्रष्टा वा। ऋषिभिः प्रणीताः ग्रन्थाः आर्षग्रन्थाः।

वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक ग्रन्थ, उपनिषद, कल्पसूत्र, वेदांग, भारतीय दर्शन, स्मृति ग्रन्थ आते हैं। इन आर्ष ग्रन्थों में से कुछ ग्रन्थों को छात्रों के पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया था। प्रारंभ में छात्रों को संस्कृत भाषा एंव पाणिनीय अष्टाध्यायी पर आधारित संस्कृत व्याकरण का समुचित अध्ययन कराया जाता था जिससे वैदिक एवं लौकिक संस्कृत के शब्दों का यथार्थ अभिप्राय समझने और साहित्य का अनुशीलन करने में कोई कठिनाई न रहे। स्वामी जी ने संस्कृत व्याकरण को संस्कृत साहित्य की कुंजी माना है-

"अष्टाध्यायी संस्कृत लिटरेचर की कुंजी मानी जाती है उसके कंठ होने के पश्चात् तमाम आर्ष ग्रन्थों की छानबीन एक साधारण कार्य रह जाता है।"

(सद्धर्मप्रचारक १२ अगस्त १६०८ पृष्ठ-०८)

वैदिक काल में वैदिक साहित्य का पठन-पाठन प्रभूत मात्रा में होता था। इसीलिए उस समय सामाजिक, भौतिक, आध्यात्मिक और सभी तरह से समाज समृद्ध था। मध्यकाल में वैदिक साहित्य का पठन-पाठन लगभग पूर्णरुपेण बन्द हो गया। वैदिक आदर्श एवं साहित्य की पुनः स्थापना करने का आह्वान करते हुए स्वामी जी लिखते हैं-

"वैदिक आदर्शों को पुनरपि जीवित करने का समय आ गया है और उसके लिए काम करने वालों की परमात्मा स्वयं सहायता करते हैं।"

(सद्धर्म प्रचारक २२ जुलाई १६०८ पृष्ठ-०४)

स्वामी जी ने आर्ष ग्रन्थों के साथ पाश्चात्य शिक्षा का भी समर्थन किया है। पाश्चात्य शिक्षा से हम उन विषयों का ग्रहण करते हैं जो विषय यूरोप आदि पश्चिमी देशों से आये हैं, इनमें -अंग्रेजी, विज्ञान, भूगोल, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान आदि विषय प्रमुख हैं। स्वामी दयानन्द ने इन विषयों को पश्चिमी देशों की देन नहीं माना है। अपितु उनका मानना है कि ये सभी विषय हमारे यहां पहले से विद्यमान हैं। वेद, वेदांग, उपनिषद् आदि आर्ष ग्रन्थ आध्यात्मिक ज्ञान के अथाह सागर होने के साथ-साथ भौतिक ज्ञान, विज्ञान के भी मूल श्रोत हैं। अर्थवेद शिल्प-विद्या का भण्डार है। पुराण, महाभारत आदि ग्रन्थों में इतिहास का विशद् वर्णन मिलता है। विज्ञान, भूगोल, मनोविज्ञान आदि के मूल बीज वेदों मे विद्यमान हैं। लेकिन अधिकांश विद्वान् इन विषयों को पाश्चात्य देशों की देन मानते हैं। अतः इनको पाश्चात्य विषय स्वीकार करके चर्चा करेंगें। स्वामी श्रद्धानन्द ने गुरुकुल कांगड़ी में परम्परागत आर्ष ग्रन्थों के अध्यापन की

समुचित व्यवस्था की थी। स्वामी दयानन्द ने देवनागरी अक्षरों के अभ्यास के साथ बालकों के अन्य भाषाओं के अक्षरों का अभ्यास कराने पर भी बल दिया है -

"जब पाँच-पाँच वर्ष के लड़का लड़की हों तो तब देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करावें, अन्य देशीय भषाओं के अक्षरों का भी।"

(सत्यार्थप्रकाश-द्वितीय समुल्लास-स्वामी दयानन्द)

स्वामी श्रद्धानन्द ने अंग्रेजी की महत्ता को स्वीकार करते हुए अंग्रेजी को भी गुरुकुल के पाठ्यक्रम में समुचित स्थान दिया था।

दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद का भाष्य करते हुए लिखा है- 'जो पहले समय में आर्य लोगों ने अश्व विद्या के नाम से शीघ्र गमन का हेतु शिल्पविद्या उत्पन्न की थी, वह अग्निविद्या की ही उन्नति थी। जिन पुरुषों को विमानादि सवारियों की सिद्धि की इच्छा होवे वायु, अग्नि और जल से उनको सिद्ध करें। दयानन्द सरस्वती ने अपने शिष्यों को विज्ञान के अध्यापन हेतु जर्मनी के एक शिक्षक डा० जी० वाइज से पत्र व्यवहार किया था। किन्तु उनकी असामयिक मृत्यु के कारण उनका यह स्वप्न पूरा न हो सका। स्वामी श्रद्धानन्द ने लिखा है-

"पदार्थ विज्ञान की प्राप्ति पर ऋषि दयानन्द ने बड़ा बल दिया है क्योंकि उसी की प्राप्ति को वह उन्नति की पहली सीढ़ी समझते थे।"

(सद्धर्म प्रचारक-१२ अगस्त १६०८ पृष्ठ-०५)

विज्ञान को उन्नति की पहली सीढ़ी मानकर स्वामी श्रद्धानन्द विज्ञान की शिक्षा को और अधिक समय देने के पक्ष में थे-

"यद्यपि इस समय साइंस का तीसरा दर्जा है तथापि हम सब वह दिन शीघ्र लाना चाहते हैं जब सांइस को संस्कृत के नीचे दूसरा दर्जा मिल सके।"

(सद्धर्मप्रचारक ०५ अगस्त १६०८ पृष्ठ-०४)

स्वामी श्रद्धानन्द ने इतिहास, भूगोल आदि विषयों के अध्यापन की भी व्यवस्था की थी किन्तु वे संशोधित इतिहास ही पढ़ाने के पक्षधर थे। उनका विचार था कि हमारे इतिहास में विदेशियों और अन्य धर्मावलम्बियों ने अनेक प्रकार की मिलावट करके उसे विकृत कर दिया है। वे इतिहास और भूगोल में गहरा संबन्ध मानते हैं -

"यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो इतिहास का आरंभ ही भूगोल विद्या से होता है।"

(सद्धर्म प्रचारक -०५ अगस्त १६०८ पृष्ठ -०३)

पाश्चात्य विषयों को ऋषिप्रणाली के अनुरूप मानकर स्वामी श्रद्धानन्द ने उनके अध्ययन-अध्यापन पर समुचित ध्यान दिया था।

वैदिक काल में स्त्रियां उच्च शिक्षा प्राप्त करती थीं। कई महिलाएं मन्त्रद्रष्टा ऋषि रही हैं। वेदों में स्त्री को शिक्षिका,न्यायकारी, यज्ञों में पति का साथ देने वाली, क्षत्राणी, उपदेशिका, वीरप्रसवा, ब्रहम-क्षत्र की जननी, विद्यालंकृता, पतिंवरा, अन्नपूर्णा, सद्गृहिणी आदि अनेक नाम दिए गये हैं। इससे स्पष्ट है कि उस समय स्त्रियों की अति उत्तम स्थिति थी। मध्यकाल में स्त्रियाँ अशिक्षित होकर दयनीय स्थिति को प्राप्त हुई। उन्नीसवीं शताब्दी में महर्षि दयानन्द ने स्त्रियों को बच्चों का सबसे बड़ा गुरु मानते हुए उनकी शिक्षा पर बल दिया। दयानन्द ने तीनों शिक्षकों में माता को सबसे बड़ा शिक्षक माना है। जब भारत में स्त्रियाँ शिक्षित थीं उस समय देश विश्व का गुरु था। किन्तु मध्यकाल में स्त्रियों की अशिक्षा से देश का अधःपतन हुआ। जब तक स्त्रियाँ शिक्षित नहीं हो जातीं तब तक इस देश की उन्नति होना अत्यन्त कठिन है-

"अब केवल इनकी ही अधोगति से इतना गिर गया है कि इसका पुनः उच्च शिखर पर पहुँचना बहुत कठिन हो गया है। जब तक भारत ललनायें पुनः पठन-पाठन की ओर ध्यान नहीं देखेंगी, तब तक भारत का उद्धार होना असंभव है।"

(सद्धर्म प्रचारक २७ अक्टूबर १६०६ पृष्ठ-११)

सन्तान पर सर्वाधिक प्रभाव माँ का ही पड़ता है। अतः उसका सुशिक्षित होना परमावश्यक है। महर्षि दयानन्द ने पाँच वर्ष की अवस्था होने पर बच्चों को प्रयत्न एवं उच्चारण स्थान सहित वर्ण ज्ञान कराने का विधान माँ के लिए किया है। उनका मानना था कि जितना उपकार स्त्रियों की शिक्षा से हो सकता है उतना पुरुष की शिक्षा से नही। माँ का सन्तान पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है- "यदि माता सुशीला तथा पढ़ी-लिखी हो तो बालक पर सुशीलता तथा परिश्रम के साथ विद्या ग्रहण करने का अच्छा प्रभाव और माता मूर्ख वा ऐहलौकिक वा पारलौकिक सद्व्यवहारों में सर्वथा अनभिज्ञ व अशिक्षित होवे तो बुरा प्रभाव पड़ेगा।"

(सद्धर्म प्रचारक २७ अक्टूबर १६०६ पृष्ठ-१०)

स्वामी दयानन्द के अनुसार स्वामी श्रद्धानन्द ने भी बालक एवं बालिकाओं की शिक्षा की व्यवस्था पृथक्-पृथक् करने का विधान किया है। उन्होने कहा है कि जिस

प्रकार आप आपने पुत्रों की शिक्षा की तरफ ध्यान देते हैं, उसी तरह कन्याओं की शिक्षा पर भी ध्यान दें। केवल पुरुषों के ही शिक्षित होने से कोई समाज, राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता। समाज एवं राष्ट्र की उन्नति में स्त्रियों का योगदान पुरुषों से किसी हालत में कम नहीं आँका जाना चाहिए। बच्चों को संस्कार, प्रारंभिक शिक्षा एवं सद्व्यवहार ज्ञान माँ से प्राप्त होते हैं। इसलिये यदि बच्चों की शिक्षा के प्रति रुचि जगाना चाहते हैं, उनमें प्रेम और सौहार्द देखना चाहते हैं, तो पहले स्त्रियों को शिक्षित करने का कार्य करो, उनमें राष्ट्रप्रेम एवं सौहार्द की भावना भरो। स्त्रियों के शिक्षित होने से उनकी होने वाली सन्तान को उनके गुण विरासत में प्राप्त हो जायेंगे। इसलिये महिलाओं की शिक्षा परमावश्यक है। आर्यसमाज के प्रयासों के फलस्वरूप ही आज महिलाओं में अधिकाधिक शिक्षा दिखाई पड़ती है।

शिक्षा क्यों आवश्यक है ? इसका उत्तर देते हुए स्वामी श्रद्धानन्द लिखते हैं- "शिक्षा से रहित राष्ट्र उन्नति कर सके यह अश्रुतपूर्व तथा असंभव बात है। उन्नति करने के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्र का बहुत बड़ा अंश शिक्षित होवे। बिना शिक्षा के देश के बड़े भारी भाग की सामाजिक तथा आर्थिक दशा का सुधारना नहीं बन सकता।

(सद्धर्म प्रचारक २७ सितं० १६११ पृष्ठ-०५)

शिक्षा का उद्देश्य अत्यन्त विस्तृत है। समानता, विकास, सौहार्द, राष्ट्रीय उन्नति, ज्ञान-विज्ञान का अर्जन, चारित्रिक उत्थान, धार्मिक जीवन, समाज सेवा की भावना आदि गुणों को देने वाली शिक्षा ही है। शिक्षा वह रत्न है जिसके स्पर्श मात्र से मनुष्य को आत्मबोध और स्वकर्त्तव्य बोध होता है। जिसके प्रभाव से वह समाज तथा राष्ट्र की उन्नति में सहायता करने को तत्पर होता है। समाज या राष्ट्र के सर्वतोमुखी विकास के लिए सभी व्यक्तियों का शिक्षित होना आवश्यक है। स्वामी श्रद्धानन्द अनिच्छुकों को जबर्दस्ती शिक्षित करने पर बल देते है

"सबको शिक्षित करने के लिए आवश्यक है कि अनिच्छुकों को जबर्दस्ती शिक्षित किया जाये

(सद्धर्मप्रचारक ०१ अक्टू० १६११ पृष्ठ-०६)

स्वामी श्रद्धानन्द नें पुस्तकीय शिक्षा के साथ आत्मिक उन्नति के लिए प्रयास करने पर भी बल दिया है। आत्मिक उन्नति के लिए उन्होंने धार्मिक शिक्षा को आवश्यक माना है।

रमेशचन्द्र, प्रवक्ता-हिन्दी
राजकीय इण्टरमीडिएट कालेज,
चाकीसैंण, पौड़ी-गढ़वाल (उ०प्र०)

स्वामी श्रद्धानन्द : हिन्दी साहित्यकार के रूप में

अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द जी का नाम इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित है। उन्होंने आर्यसमाज, राष्ट्र तथा शिक्षण के क्षेत्र में देश की महनीय सेवा की। उनके व्यक्तित्व में कर्मठता तथा बौद्धिकता का अद्‌भुत समन्वय देखने को मिलता है। स्वामी जी कर्मक्षेत्र के निर्भीक योद्धा होने के साथ ही एक सफल लेखक तथा साहित्यकार भी थे। उन्होंने उर्दू, हिन्दी तथा अंग्रेजी में कई महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की।

स्वामीजी के लेखकीय जीवन का आरम्भ एक पत्रकार के रूप में हुआ। उन्होंने १८८६ ई० में 'सद्धर्म प्रचारक' नाम से एक उर्दू साप्ताहिक पत्र निकाला। पर कुछ मित्रों के सुझाव पर कुछ वर्ष बाद इसे हिन्दी में निकालना आरम्भ कर दिया। पुस्तक रूप में प्रकाशित उनकी प्रथम रचना 'वर्णाश्रम व्यवस्था' है जो १८६१ ई० में प्रकाशित हुई।

हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि में स्वामी जी का महत्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने 'कल्याण मार्ग का पथिक' नाम से अपनी आत्मकथा लिखी। 'आर्यपथिक पं० लेखराम' का जीवन-चरित्र प्रस्तुत किया। 'बन्दीघर के विचित्र अनुभव' तथा 'गोपाल कृष्ण गोखले' नामक सुन्दर संस्मरण भी लिखे। इस तरह स्वामीजी ने 'आत्मकथा', 'जीवनी' तथा 'संस्मरण' जैसी गद्य की नवीन विधाओं पर अपनी लेखनी चलाकर हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया है।

'कल्याण मार्ग का पथिक' नाम से अपनी आत्मकथा स्वामी जी ने उस समय लिखी थी जब हिन्दी में आत्मकथा साहित्य का पूर्ण विकास भी नहीं हुआ था। इसलिए ऐतिहासिक दृष्टि से भी इस आत्मकथा का हिन्दी आत्मकथा साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है। इसका प्रकाशन संवत् १६८१ में ज्ञानमंडल, वाराणसी से हुआ। इसमें स्वामी जी ने अपने जीवन के ३५ वर्षों के क्रिया-कलापों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। स्वामी जी का प्रारम्भिक जीवन बड़ा उतार-चढ़ाव भरा रहा। कई बार वे पतन के गर्त में भी गिरे। एक सच्चे आत्मकथा लेखक की तरह स्वामी जी ने अपने जीवन के इन कालिमा भरे पक्षों का बड़ा बेबाक चित्रण किया। वास्तव में यह आत्मकथा उनके श्रेय मार्ग की ओर कदम बढ़ाने की अद्‌भुत, रोमांचक और शिक्षाप्रद कहानी है। इसीलिए उन्होंने

इसका नाम 'कल्याण मार्ग का पथिक' रखा। स्वामी जी की यह आत्मकथा पथ से भटके लोगों के लिए प्रेरणा का स्रोत है। स्वामी जी की यह आत्मकथा नाना प्रकार के जीवनानुभवों से परिपूर्ण है।

इसमें अनेक रोचक तथा शिक्षाप्रद संस्मरण भरे पड़े हैं। आर्य समाज के उन दिनों की गतिविधियों को जानने के लिए यह आत्मकथा एक प्रामाणिक दस्तावेज है।

स्वामी जी की इस आत्मकथा में उनका व्यक्तित्व ही पाठक के आकर्षण का केन्द्र बन गया है। आत्मोद्घाटन के साथ-साथ उनका आत्मनिरीक्षण, आत्मविवेचन और आत्मविश्लेषण भी चलता रहा है। पर अपने भोगे हुए जीवन का चित्रण करने में स्वामी जी बराबर सचेत रहे हैं। इससे पाठक पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ता है। 'कल्याण मार्ग का पथिक' स्वामी श्रद्धानन्द जी की आत्मकथा है। इसमें हम उन्हें पतन के मार्ग से क्रमशः ऊँचे उठते देखते हैं। और ग्रंथ के अंत में तो वे हमें साधना के उच्च शिखर पर खड़े दिखाई देते हैं। आत्मकथा को सजीव बनाने के लिए स्वामीजी ने सामाजिक एवं बाह्य परिस्थितियों का चित्रण किया है। इस परिवेश के ताने-बाने के बीच उनका चरित्र आत्मकथा में उभरता जाता है और पाठक के आकर्षण का केन्द्र बनता जाता है। आत्मकथा की भाषा तद्युगीन खड़ी बोली हिन्दी है जिसमें कई भाषाओं के शब्दों का प्रयोग देखने को मिलता है। लेखक की सरल, विवरणात्मक शैली ने आत्मकथा को रोचक बना दिया है। इस आत्मकथा का उद्देश्य पाठक को पतन के मार्ग से बचाना है। इसका उल्लेख स्वामी जी ने स्वयं आत्मकथा में कर दिया है- "आत्मकथा के पाठ से बहुत से युवकों को संसार यात्रा में ठोकरों से बचने की शक्ति भी मिलेगी।" (कल्याण मार्ग का पथिक, पृ० ४)

स्वामी जी ने अमर हुतात्मा पं० लेखराम का जीवन-चरित्र 'आर्य पथिक पं० लेखराम' नाम से लिखा। तब स्वामी श्रद्धानन्द 'मुंशीराम जिज्ञासु' के नाम से जाने जाते थे। पं० लेखराम के अनेक जीवन-चरित्र लिखे गए, पर उनका प्रथम सर्वांगीण मौलिक जीवन-चरित्र स्वामी श्रद्धानन्द (मुंशीराम जिज्ञासु) ने ही लिखा। इसका प्रथम संस्करण १६१४ ई० में गुरुकुल कांगड़ी से प्रकाशित हुआ। पं० लेखराम बहुत थोड़े समय ही जीवित रहे। उन्होंने अपना पूरा जीवन वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में लगा दिया।. स्वामी जी तथा पं० लेखराम जी में उत्कट मैत्री और सौहार्द भाव था।

दोनों ने अनेक स्थानों की प्रचार यात्राएँ साथ-साथ कीं। दोनों ने एक दूसरे के व्यक्तित्व चरित्र, स्वभाव तथा विचारों को परख लिया था। दोनों की गणना आर्यसमाज के प्रमुख नेताओं में होती थी।

जीवनी साहित्य के रूप में 'आर्य पथिक पं० लेखराम' एक सफल रचना है। इसमें पं० लेखराम के सम्पूर्ण जीवन पर खुलकर प्रकाश डाला गया है। जीवनी लेखक ने उनके जीवन की प्रत्येक घटना को उजागर करने का भरसक प्रयास किया है। प्रारम्भ से लेकर अंत तक सम्पूर्ण जीवन चरित्र क्रमबद्ध रूप से लिखा गया है। एक सफल जीवनी लेखक की तरह स्वामी जी ने पं० लेखराम का जीवन चरित्र प्रस्तुत करते हुए निष्पक्षता तथा ईमानदारी का परिचय दिया है। जहाँ तक इस जीवनी की भाषा का सवाल है, जीवनी लेखक ने पुस्तक की प्रस्तावना में ही लिख दिया है- "आगे के पृष्ठों में भाषा के लालित्य तथा विचारों के पाण्डित्य को खोजना एक निष्फल परिश्रम होगा। पर इस रचना में उनकी भाषा का लालित्य दिखाई ही दे जाता है। दृष्टान्तों और लोकोक्तियों के प्रयोग ने इस रचना को और भी रोचक बना दिया है। कुल मिलाकर 'आर्य पथिक पं० लेखराम' हिन्दी की उच्चकोटि की जीवनी रचना है।

'बन्दीघर के विचित्र अनुभव' नामक संस्मरण स्वामी श्रद्धानन्द के कारावास की कहानी है। इसका प्रथम संस्करण १६२३ ई० में प्रकाशित हुआ। अमृतसर में 'गुरु का बाग' नामक गुरुद्वारे के समीप की भूमि को लेकर अंग्रेजों तथा सिक्खों में परस्पर विवाद चल रहा था। अकालियों ने उस पर अपना अधिकार स्थापित करने के लिए सत्याग्रह का मार्ग अपनाया और समस्त देशवासियों को उसमें सम्मिलित होने का आह्वान किया। इस अहिंसक सत्याग्रह के समर्थन के लिए स्वामी जी अपने साथियों के साथ अमृतसर गये। वहां उन्होंने उपस्थित जनसमूह को सम्बोधित किया और सत्याग्रह में भाग लेने वालों को अपना आशीर्वाद दिया। परिणाम स्वरूप अंग्रेजों ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। उन पर मुकदमा चलाकर कारावास का दण्ड दिया गया। कुछ दिन उन्हें अमृतसर जेल में रखा गया, तत्पश्चात् उन्हें मियाँवाली (अब पाकिस्तान में) जेल में स्थानान्तरित कर दिया गया। यद्यपि उन्हें एक वर्ष चार मास की सजा सुनाई गयी थी, पर २६ दिसम्बर १६२२ को उन्हें अचानक मियाँवली जेल से मुक्त कर दिया गया। अपने इसी जेल जीवन के अनुभव को स्वामी जी ने 'बन्दीघर के विचित्र अनुभव' नाम से लेखनी बद्ध किया है।

इस संस्मरण के नायक वे स्वयं हैं। सम्पूर्ण संस्मरण में उनका व्यक्तित्व साफ-साफ झलकता है। वे लिखते हैं- "प्रातः काल दो बजे नियम से उठता था। तीक्ष्ण वायु युक्त सर्दी में भी यह नियम शिथिल नहीं हुआ। लघुशंका कर और हाथ-मुँह पोंछकर ध्यान में बैठ जाता।

(स्वामी श्रद्धानन्द ग्रंथावली, भाग-४, पृ०-१४१)

इस रचना में देशकाल का भी सफल चित्रण किया गया है। इसकी भाषा सरल किन्तु सरस है। अंग्रेजी तथा उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। इसकी शैली आत्मकथात्मक है। स्वामी जी का यह संस्मरण हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है।

स्वामी जी ने अपना दूसरा महत्वपूर्ण संस्मरण गोपाल कृष्ण गोखले पर लिखा। गोखले से स्वामी जी की प्रथम भेंट दिसम्बर १९०० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में हुई। इसके बाद तो दोनों में मैत्रीभाव कायम हो गया। गोखले से अपने सम्बन्धों का जिक्र करते हुए स्वामी जी लिखते हैं- "परिस्थितियां ही कुछ ऐसी रहीं कि मैं दिसम्बर १९०० ई० में श्री गोखले की कुछ अधिक सहायता नहीं कर सका। इसके कुछ अपरिहार्य कारण भी थे, किन्तु उस समय हम दोनों में जो मैत्री भाव बना वह निरन्तर बढ़ता ही गया और एक समय आया जबकि मातृभूमि की सेवा के समान कर्तव्य पालन में हम एक हो गये।

(स्वामी श्रद्धानन्द ग्रंथावली, भाग-६, पृ० १७२)

गोखले जी और स्वामी जी के बीच पत्राचार चलता रहा। इस संस्मरण में स्वामी जी ने पाँच पत्र गोखले जी के तथा चार पत्र अपने ज्यों के त्यों रखे हैं। वस्तुतः इन पत्रों के माध्यम से ही स्वामी जी ने गोखले का स्मरण किया है। पत्रों की भाषा बड़ी सजीव है।

इस तरह हम देखते हैं कि स्वामी जी ने अपनी इन रचनाओं द्वारा हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि तो की ही है, साथ ही हिन्दी जगत् में अपना महत्वपूर्ण स्थान भी बना लिया है।

डा० सन्तराम वैश्य
रीडर, हिन्दी विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार - २४९४०४

पूज्य स्वामी श्री श्रद्धानन्द से सम्बन्धित मेरी बाल्यावस्था की धुंधली स्मृतियाँ

(इन्द्रदेव खोसला एडवोकेट)

गुरुदेव के पूर्वज और मेरे पूर्वज गाँव तलवन (तहसील-फिल्लौर, जनपद-जालन्धर) के निवासी थे और उस समय वह गाँव अपनी चरम सीमा पर था- क्षत्री परिवारों का गढ़ था। स्वामी जी के पूर्वज विज़ क्षत्री कहाते थे और मेरे खोसला। दोनों कुटुम्बों के पृथक्-पृथक् मुहल्ले थे सबकी बड़ी-बड़ी हवेलियाँ थी - मेरे परदादा और स्वामी जी महाराज के दादा समकालीन-समान आयु के थे। इकट्ठे खेले, इकट्ठे पढ़े और फिर युवक होकर एक ही रियासत (कपूरथला) में नौकर हो गए। स्वामी जी के दादा जी का नाम था गुलाबराय और मेरे परदादा जी का नाम था श्रीगनपतराय। श्री गुलाबराय जी ड्योढी (रानियों के रहने का स्थान) के प्रबन्धक थे और मेरे परदादा जी खजाने में कार्य करते थे। दोनों परिवारों में बहुत प्रेम था।

जिस समय पूज्य स्वामी जी जालन्धर में वकालत करते थे उन्हीं दिनों मेरे पूज्य पिताजी को साईंदास हाईस्कूल में मैट्रिक करने के लिए भेजा गया था। स्वामी जी महाराज को मेरे पूज्य पितामह ने पिताजी का स्थानीय संरक्षक नियुक्त कर दिया था। उन दिनों पारिवारिक सम्बन्धों के कारण कुछ ऐसी ही प्रथा थी। इसलिए पिताजी को स्वामी जी महाराज के पास उनके आदेशानुसार मास में एक-दो बार जाना होता था। पिताजी पढ़ाई में मेधावी छात्र थे इसलिए स्वामी जी के प्रेम के पात्र बन गए। स्वामी जी उन्हें बड़े प्रेम से सुन्दर नाम से पुकारते थे और उस नाम से अन्त तक पुकारते रहे (पुरा नाम सुन्दरलाल था) उन दिनों पिताजी पर स्वामी जी का बहुत प्रभाव पड़ा और स्वामी जी की आज्ञानुसार आर्य समाज अड्डा होशियारपुर में जाने लगे और धीरे-धीरे पुराने काल के आर्यों की भांति लग्नशील आर्य समाज के सेवक हो गये। वैसे तो हमारे पूर्वज खालसा पन्थ के अनुयायी थे, विशेषकर जब से मेरी पूज्य दादी जी श्रीमती ईश्वरकौर घर में आई। वह किसी एक गुरु की वंशज की थी। सब रीति-रिवाज खालसा पन्थ के होते थे, परन्तु स्वामी जी के प्रभाव से और पिताजी के कारण सारा परिवार आर्य समाज (वैदिक-धर्मी) का अनुयायी हो गया। हमारा परिवार पूज्य स्वामी जी का बहुत आभारी है, क्योंकि वे ही हमारे विचारों को बदलने के मूल स्रोत हैं। मुझ पर तो स्वामी जी महाराज की और भी अनुकम्पा है। क्योंकि मेरा नामकरण संस्कार उन्होंने कराया था वे मेरे God Father हैं। मेरा जन्म हिसार में १९११ में हुआ था। वहाँ पर आर्य समाज के उत्सव पर स्वामी जी आये थे।

एक बार स्वामी जी महाराज हमारे निवास स्थान पर आये थे, उस समय मैं घर के बाहर खेल रहा था। दादी जी ने पूछा कौन आये हैं तो मैंने बचपन की मूढ़ पंजाबी जुबान में उत्तर

दिया "बाबा रोड़ा मोढ़ा आये हैं" इस पर मेरी माताजी ने ताड़ना की, चपत भी लगाए, तो उस दया के सागर देवता ने मुझे प्यार किया, गोद में बैठने का सुअवसर भी प्रदान किया। मेरे पिताजी रेलवे विभाग में इंजीनियर थे और जोधपुर में नियुक्त थे उस समय स्वामी जी को आर्य समाज के उत्सव पर बुलाया गया था और पिताजी ने मेरे छोटे भाई नरेन्द्र देव का मुण्डन संस्कार (चूड़ाकर्म) भी करवाया था। स्वामी जी महाराज हमारे ही बंगले में जो जोधपुर के एक Sub Station राईकाबाग में था, ठहरे थे। जो आर्य समाज से बहुत दूर था, इस कारण पिताजी ने उन्हें ले जाने, लाने के लिए राजकीय बग्घी का प्रबन्ध कर रखा था। एक दिन बग्घी वाला ठीक समय पर आ गया। परन्तु पिताजी तैयार नहीं हुए थे स्वामी जी अन्दर आंगन में आये।... माता जी से पूछा सुन्दर कहाँ है ? तो माता जी ने कहा सन्ध्या कर रहे हैं, तुरन्त स्वामी जी पिताजी के छोटे से कार्यालय में गए एक कागज लिया और उस पर यह लिखकर "सुन्दर" Action is the only prayer that is ever heard, बग्घी पर सवार होकर स्वामी जी समाज चले गए और पिताजी जो समाज के अधिकारी भी थे उन्हें वहीं छोड़ गए।

यदि उदंडता न समझी जाय तो प्रोफेसर इन्द्रजी के विचार मेरे अपने शब्दों में उनसे मिलते जुलते लिख रहा हूँ। "पिताजी बहुत भावुक थे उनके मस्तिष्क में जो विचार आता तुरन्त पूरा करने में लग जाते, मैं (इन्द्र) सब काम सोच विचार करके करने वाला था और जब पिताजी को कहता कि मुझे इस विषय पर सोच लेने दो तो स्वामी जी कहते नहीं मेरा आदेश है इस कारण हमें वह कार्य करना ही पड़ता था"।

इस संदर्भ में ठीक शब्दों के प्रयोग के लिये श्री इन्द्र जी द्वारा लिखा आर्य समाज का इतिहास देखें। स्वामी जी महाराज और हमारे परिवार की घनिष्ठता का एक कारण यह भी था कि मेरे पूज्य फूफा स्वर्गीय डा० चिरञ्जीव भारद्वाज M.B.B.S. F.R.C.S. लाहौर के प्रसिद्ध व कुशल चिकित्सक थे और आर्य समाज के वरिष्ठ नेताओं में से थे। सत्यार्थ प्रकाश का सबसे पहली बार उन्होंने ही अंग्रेजी में अनुवाद किया था- फूफा जी स्वामी जी की गुरुकुल प्रणाली के समर्थक थे और उनके साथ मिल कर इस क्षेत्र में बहुत कार्य किया था। स्वामी जी के right hand कहाते थे। उन्होंने भी स्वामी जी की भान्ति गुरुकुल के प्रारम्भिक काल में अपने दोनों सुपुत्रों श्री सत्यव्रत और सत्यकाम को प्रवेश करवाया था।

नोट I :- जब मैं ये पंक्तियां लिख रहा हूं मेरी आखों के सामने गुरुवर स्वामी श्रद्धानन्द जी का भव्य स्वरूप, विशाल ललाट और वह तेजस्वी चमकते नैन बार-बार घूम रहे हैं और मैं उनको अपने श्रद्धा के सुमन भेंट कर रहा हूं।

नोट II :- ऊपर कह आया हूँ कि यह मेरे बाल्यावस्था के धुंधले से विचार हैं इस कारण त्रुटियां भी हो सकती हैं।

इन्द्रदेव खोसला
२२५, आर्य वानप्रस्थ आश्रम,
ज्वालापुर - हरिद्वार

स्वामी श्रद्धानन्द जी के चरणों में.....कुछ पद्य-प्रसून

महावीर 'नीर' विद्यालंकार
गुरुकुल कांगड़ी वि.वि.

यह धन्य-धन्य भारत-माता, यह पुण्य-भूमि, यह देव-धरा।
प्रभु की इस अनुपम रचना को, शतबार सखे, वन्दन मेरा।।

इसके वन-उपवन सरितायें, गुण-गान सदा करती इसका।
हिमगिरि के ऊँचे शुभ्र-शिखर, यश-गान सदा करते इसका।।

सागर लहरा कर चरणों का, निशिवासर वन्दन करते हैं।
चन्दा-सूरज निज आभा से, इसका अभिनन्दन करते हैं।।

ऋतुओं की छटा सुहानी यहाँ, सबका मन भी मोह लेती है।
यह शस्य श्यामला धरती माँ, जन-जन का मंगल करती है।

यह ऋषियों की है दिव्य-धरा, ज्ञानी-ध्यानी जन्में यहाँ पर।
यह तपस्वियों की भू-माता, सिंहों से खेले थे यहाँ पर।।

इसकी गोदी में पल कर के, बलवान बने, विद्वान बने।
महापुरुष अनेकों जन्में यहां, जो भारत-भू की शान बने।।

ऐसी इस भारत-भूमि में, जब 'फिरंगियों' का शासन था।
सन् ५७ का गदर मचा, भारत का कण-कण घायल था।।

पंजाब प्रान्त के एक घर में, नन्हें बालक ने जन्म लिया।
'श्रद्धानन्द स्वामी' बन कर के, भारत का ऊँचा नाम किया।।

उस वीर अमर बलिदानी की, गाथा लिखने की ठानी है।
जीवन के रूप अनेकों हैं, अद्भुत् एवं लासानी है।।

कभी बने 'राष्ट्र' के नायक तो, कभी 'जिज्ञासु' बन जाते हैं।
'महात्मा' की पदवी ग्रहण करी 'श्रद्धानन्द' भी बन जाते हैं।।

'गुरुकुल' के संस्थापक बन कर, 'कुलपिता' कभी कहलाते हैं।
'तप-त्याग-मूर्ति' श्रद्धानन्द, 'शहीदों' में नाम लिखाते हैं।।

हिन्दी-भाषा के पोषक बन, दिल्ली में धूम् मचाते हैं।
कभी 'कांग्रेस' के नेताबन, एक नयी भावना लाते हैं।।

अमृतसर के अधिवेशन में 'स्वागत-सिरमौर' बने स्वामी।
'घर-घर' में प्रतिनिधि ठहराये, जन-जन के प्यारे थे स्वामी।।

कभी 'संगीनों' के आगे आ, 'बेताज' बादशाह कहलाये।
'जामा मस्जिद' से जब बोले, 'आला-फकीर' थे कहलाये।।

आर्यों की जीवन-नैय्या के नाविक स्वामी जी बनते हैं।
'ऋषि-दयानन्द' के सैनिक बन, नहीं कभी कष्ट से डरते हैं।।

'शुद्धि-प्रचार' किया ऐसा 'मलकाने-मुस्लिम शुद्ध किये।
उद्धार दलितों का करने, जन-जन के मन तैयार किये।।

वे 'सत्' के धारण करने से 'श्रद्धानन्द स्वामी' कहलाये।
निज 'आत्म-कथा' लिख दी ऐसी, गुण अवगुण सारे बतलाये।।

बहु आयामी जीवन वाले, वे श्रद्धानन्द अलबेले थे।
सबके प्राणों के प्राण अरे, वें 'राष्ट्र भक्त अलबेले थे।।

'स्वातन्त्रय-समर' के योद्धा थे, वे वीर अमर बलिदानी थे।
'भारत माता' के वरद् पुत्र, वें जीवन में लासानीं थे।।

ऐसे अद्भूत् जीवन वाले, मानव बिरले ही होते हैं।
अपना जीवन देकर जग को, वे जीना यहाँ सिखाते हैं।।

'नानकचन्द' के कुल में जन्मे, फागुन का दिन अलबेला था।
सम्बत्, १६१३ कृष्ण-पक्ष, खुशियों का घर में मेला था।।

'वृहस्पति' नाम था बचपन का, पर उल्टे कर्म किया करते।
गन्दी संगत में पड़कर के, जीवन बरबाद किया करते।।

नियमित शिक्षा मिल सकी नहीं, व्यवधान पठन में बहुत पड़े।
पर 'क्वीन्स कॉलेज' काशी जी में, आगे की शिक्षा आप पढ़ें।।

वहां पर भी बुरी आदतों ने, नहीं उनका पीछा छोड़ा था।
अपने चरित्र् की ओर अभी, उनका ध्यान कुछ थोड़ा था।।

वे कोट पैंट नकटाई लगा, फिर इतर-फुलैल लगाते थे।
रण्डी-भडुवों की महफिल में, जीवन का लुत्फ उठाते थे।।

युवक थे मुंशीराम सुनो, वे मांस-मद्य भी खाते थे।
थे पिता शहर के कोतवाल, मस्ती वे खूब उड़ाते थे।।

सन् अठारह सौ सतहत्तर में, फिर विवाह रचाया जाता है।
उपन्यासों में जो पढ़ते थे, नहीं पत्नी में वह मिलता है।।

वह सती-साध्वी सरलचित्त, धार्मिक महिला पर्दे वाली।
थी जमींदार की बेटी पर, एक स्नेहपूर्ण हृदय वाली।।

अंग्रेजी-शिक्षा के रंग में, वे यों भरमाये जाते थे।
अच्छे और बुरे का भी, नहीं भेद समझ कुछ पाते थे।।

सब गन्दी आदत छूट चली, पर गम को भूला रहीं मदिरा।
एक रोज बहुत पीकर आए, अब देखो ईश्वर की महिमा।।

पतिव्रता-साध्वी 'शिवदेवी, भोजन ले खड़ी बेचारी है।
उस 'मुंशीराम' अलबेले को, मदिरा की चढ़ी खुमारी है।।

फिर धुत्त नशे में थाली पर, एक लात घुमा कर मारी है।
ईश्वर की अद्भुत बातों को, कब समझ सके संसारी हैं।।

सब भोजन-बर्तन बिखर गया, सहमी-सहमी 'शिव देवी' थी।
आँसू टप-टप कर गिरते थे, डरती-डरती कुछ कहती थी।।

थी चढ़ी मद्य की मादकता, वे गन्दी गाली बकते थे।
था होश नहीं उनको अपना, औंधे बिस्तर पर गिरते थे।।

'शिवदेवी' उनको देख-देख, आँखों से अश्रु बहाती हैं।
'जूते-जुराब' उतारे फिर, उनके दो चरण दबाती है।।

धन्य-धन्य 'शिवदेवी' तुम,
तुम जैसी भारत की देवी।
पतितों को अरे! उठाती है,
देकर अपनी ममता सारी।।

फिर आँख खुली तो 'मुंशीराम' देवी के तप को देख-देख।
पछताये अपनी करनी पर, अपने को इतना गिरा 'देख'।।

वह उतर गया सब रंग-ढंग, पत्नी का स्नेह समझ आया।
उस भोली-भाली बाला का, उनको सब रूप समझ आया।।

फिर, बोतल तोड़ फेंक डाली, क्षण में जीवन कुछ ओर बना।
बरसों का मद्यप मुंशीराम 'कल्याण-मार्ग का पथिक' बना।।

एक रोज धमाका हुआ गजब, वह नगर बरेली जाग उठा।
'ऋषि दयानन्द' आगमन देख, सोता समाज भी जाग उठा।।

जब जीवन में कुछ घटता है, संकेत स्वयं मिल जाते हैं।
हम जैसे अल्प बुद्धि प्राणी, यह बात समझ नहीं पाते हैं।।

अपने बेटे को भटका सा, जब देखा पिता 'नानक चन्द' ने।
चिन्ता की रेख उभर आयी, दी उन्हें प्रेरणा निज मन ने।।

फिर बोले युवक बेटे से, एक 'दण्डी' स्वामी आये हैं।
तुम भाषण उनके सुनो अरे, वे अद्भुत स्वामी आये हैं।।

जो मन में शंका रखते हो, शायद उनका उत्तर पाओ।
कुछ दिन को ठहरे हैं यहाँ पर, 'टाऊन हाल' में तुम जाओ।।

वह 'प्रथम दरस ही युवक को, ऐसा आकर्षित कर बैठा।
जैसे 'चुम्बक' के मिलने पर, लोहा खिंचाता ही है जाता।।

'स्कॉट' आदि अंग्रेजों को जब देखा ऋषि-भाषण- सुनते।
तब 'मुंशीराम' के दिल में भी 'श्रद्धा' के भाव लगे जगने।।

ऋषि दयानन्द का दिव्य तेज, उनको आकर्षित करता है।
माधुर्य-भरा वाणी का स्वर उनपर जादू सा करता है।।

मुंशीराम यह देखा-देखा, विस्मित से होते जाते हैं।
'संस्कृत' के केवल ज्ञाता यें, अदभुत बातें बतलाते हैं।

ऋषि दयानन्द निज तर्कों से, उनको समझाते जाते हैं।
पर मुंशीराम तो ईश्वर पर, विश्वास नहीं ला पाते हैं।।

ऋषि बोले जैसे प्रश्न किए, वैसे ही उत्तर दिए तुम्हें।
जिस दिन उसकी कृपा होगी, वह अपनाएंगे वत्स तुम्हें।।

फिर बोले, जिस दिन आत्मा में 'श्रद्धा' का भाव वपन होगा।
उस ईश्वर की सत्ता पर भी, तुमको विश्वास स्वयं होगा।

वह कुछ घण्टों की जिज्ञासा,
जीवन की स्वर्णिम याद रही।
'निर्भीक दयानन्द' स्वामी की
'ओजस्वी छवि' भी याद रही।।

फिर जीवन में कुछ बनने की, इच्छा ने जोर लगाया है।
'कानून-परीक्षा' देने हित, 'लाहौर' दाखिला पाया है।।

जीवन की कुछ ऐसी बातें, जो अकाल काल घट जाती है।
जीवन को कुछ का कुछ करती, बुद्धि भी ठगी रह जाती है।।

वह चिर-वियोग प्रिय-पत्नी का, जीवन में परिवर्तन लाया।
नन्हें-नन्हें थे 'इन्द्र-हरीश', उन पर सब स्नेह उमड़ आया।।

फिर 'तायी' जी उन चारों का, पालन ममता से करती हैं।
अब 'मुंशीराम' के जीवन में, अद्‌भुत घटनायें घटती हैं।।

एब ठाट-बाट से उदासीन, निज कर्मों में लग जाते हैं।
वे 'जिज्ञासु' मुंशीराम सुनो, जीवन-पथ में बढ़ जाते हैं।

एक दिन ऐसा भी आया था, जो परिवर्तन जीवन में लाया।
ऋषि दयानन्द का दिव्य ग्रन्थ, 'सत्यार्थ-प्रकाश' जब मिल पाया।।

फिर बदल गयी जीवन-सारिणी, अंधियारा भगने लगा स्वयं।
ज्यों-ज्यों पढ़ते वे जाते थे, 'सत्यार्थ-प्रकट हो गए स्वयं'।।

आर्य समाज में दीक्षित हो, 'आचार-विचार' बदल डाले।
'श्री गुरुदत्त' पथ दर्शक थे, जीवन आयाम बदल डाले।।

फिर आर्य समाज में नया जोश, व नयी उमंग भर देते हैं।
यों ग्राम-ग्राम और नगर-नगर, धर्मप्रचार हित फिरते हैं।।

ऋषि दयानन्द के नामों से, डी.ए.वी. कॉलेज खुलते हैं।
संस्थापक 'लाला हंसराज' तन-मन-धन अर्पित करते हैं।।

यों इधर 'महात्मा मुंशीराम' गुरुकुल का स्वप्न देखते हैं।
'वेदों' की शिक्षा फिर फैले, वे मन में निश्चय करते हैं।

पंजाब सभा में गुरुकुल का, प्रस्ताव एक वें रखते हैं।
गुरुकुल के लिए 'तीस-सहस्र' धन-राशि अर्जित करते हैं।।

हम उनके गुण कहाँ तक गायें, उपकार कहां तक गिनवायें।
उस श्रद्धा के अमर पुजारी ने, कितने गुरुकुल फिर खुलवाये।।

मुल्तान, मटिण्डू, इन्द्रप्रस्थ, गुरुकुल कुरुक्षेत्र भी खुलवाया।
'लाला देवराज' से मिल करके, 'कन्या गुरुकुल' भी खुलवाया।।

यह देश जगे, जन-जन जागे, यों पत्र निकाले स्वामी ने।
'जाति-बंधन' के बन्धन से यों हमें निकाला स्वामी ने।।

यों 'राजनीति के साथ-साथ, सामाजिक हल-चल कर डाली।
'शिक्षा-क्षेत्र' में गुरुकुल की एक नींव यहां फिर से डाली।।

'गुजरावालां' पञ्जाब-प्रान्त, 'गुरुकुल' का वहां श्री गणेश हुआ।
भारत के भाग्य-दिवाकर का, मानों उस दिन अभिषेक हुआ।।

पर 'मुंशीराम' के मन में जो, चिन्तन की धारा चलती थी।
दिनरात उन्हें उस ओर सदा, मन-ही मन व्याकुल करती थी।।

ऋषियों की वह पावन-वाणी, 'गिरीणां गहरे..... गूंज रही।
वन-उपवन में गुरुकुल होबस, यह तड़प उन्हें थी साल रही।।

अन्तस में उठते जो विचार, 'प्रभु' पूर्ण सदा कर देते हैं।
वह बना किसी को कर्ता फिर, सब काम पूर्ण कर देते हैं।

बिजनौर-निवासी अमन सिंह, युग-युग तक यश के भागी हैं।
तन-मन व धन अर्पित करते, ऐसे कहां मिलते त्यागी हैं।।

थे 'अमन सिंह जी' जमींदार, धन-वैभव सब था भरा हुआ।
'पुत्र-विहीन' थे मुंशी जी, जीवन में यही अभाव रहा।।

पर देकर अपना 'धन-वैभव' वे उस सुख को पा जाते हैं।
जिस सुख को इस जगती-तल पर, बिरले ही मानव पाते हैं।।

वे धन्य हुए, हम धन्य हुए, भारत-माता भी धन्य हुई।
'कांगड़ी ग्राम की भूमि भी, उस 'पुण्य-दान' से धन्य हुई।।

'तेरह सौ बीघा' वन्य-भुमि, वे गुरुकुल हित दे देते हैं।
'श्रद्धानन्द-स्वामी' धन्य-भाग, गुण मुंशी जी के गाते हैं।।

गुरुकुल में अब भी -अमन-चौक', उनकी याद दिलाता है।
यह 'कुल' तो सबका ऋणि सखे, जो पुण्य-दान के दाता हैं।।

'चण्डी' के बीहड़-जंगल में,फिर कुटियों का निर्माण हुआ।
एक सच्चे निर्भय साधु का, यह स्वप्न वहाँ साकार हुआ।।

उस 'नीलगिरि' के जंगल में, झरबेरी, बिल्व व खैर खड़े।
हिंस्रक पशुओं की गर्जन से, तन-मन में भय-संताप बढ़े।।

गंगा का तट निर्मल-पावन, 'चण्डी' की रम्य उपत्यका' में।
गुरुकुल' का शुभ श्री गणेश हुआ, १६०२ की पावन बेला में।।

'हरिद्वार क्षेत्र' यह 'पुण्यक्षेत्र', गुरुकुल से शोभित सदा हुआ।
फिरदेश और विदेशों में, यश द्विगुणित इसका ओर हुआ।।

कल-कल करती गंगा-धारा, गुरुकुल का स्पर्श किया करती।
मानो ऐसा करने के मिस, वह अपना स्नेह दिया करती।।

'आचार्य महात्मा-मुंशीराम' निज पौधे का रक्षण करते।
इस तरह अनेकों वर्षों तक, एक 'लक्ष्य-साधना' थे करते।।

अंग्रेजी शासन सत्ता का, भास्कर तब 'अस्ताचल' पर था।
स्वाधीन बनाने भारत को, वीरों का रक्त 'उदयाचल' पर था।।

इस युग में 'स्वामी' जी ने, यह 'अद्भूत-ज्योति' जलायी थी।
जिससे उद्दीप्त चिरागों ने, एक अनुपम क्रान्ति मचायी थी।।

आर्यभाषा के माध्यम से, शिक्षा सब गुरुकुल देता था।
'पाश्चात्य-पूर्व' के मिश्रण से, एक 'पूर्ण-स्नातक' बनता था।।

जहाँ-जहाँ पर पहुँ 'अलंकार' इस कुला माँ का यश-गान किया।
वेदों की पुण्य-पताका ले, निज लक्ष्य सदा संधान किया।।

'निर्भय व त्यागी' बनने की, शिक्षा गुरुकुल में मिलती थी।
निज 'मातृ-भूमि' पर मिटने की, एक 'क्रान्ति ज्वाल' भी जलती थी।।

नैतिकता और वीरता के, भावों का 'कुल' में नर्तन था।
वेदों की शिक्षा से शिक्षित, गुरुकुल माता का कण-कण था।।

वे 'मात-पिता' बन कर सबके, इस कुल को शोभित करते हैं।
'आचार्य मुंशीराम' सदा इस कुल को पोषित करते हैं।।

'गंगा' के तट पर 'खटुआ' था, वहां पर कुटिया बनवाई थी।
जीवन को समस्त भावनायें, गुरुकुल में सदा समाई थी।

एक दिन ऐसा भी आ पहुँचा, गुरुकुल से विदा हुए स्वामी।
'कनखल-मायापुर' बगिया में, 'सन्यास-ग्रहण' करते स्वामी।।

सत्यानन्द जी महाराज उन्हें, 'सन्यास-ग्रहण' करवाते हैं।
सत् का जीवन में 'व्रत' पाला, 'श्रद्धानन्द वे कहलाते हैं।।

भिगी पलकों से 'कुलवासी', उनको विदाई भी देते हैं।
ब्रह्मचारी उनके जाने से, बस ठगे-ठगे रह जाते हैं।।

वह भव्य रूप स्वामी जी का, सबको आकर्षित करता था।
'आजान बाहु' ऊँचा मस्तक, 'कद' वीर पुरुष सा लगता था।।

वह शुभ्र-श्वेत दाढ़ी उनकी, आँखों में प्रेम-भरी ज्योति।
होठों से मधु-रस टपक रहा, दिल में श्रद्धा का था मोती।।

दृढ़ता की भव्य-मूर्ति थे, 'साहस' की अमर कहानी थे।
अपने युग के वे सिंह पुरुष, श्रद्धानन्द जग में नामी थे।।

हे तपः पूत, हे वीतराग,
तुमने जग को दी नयी दृष्टि।
हे पुण्य लोक, हे पुण्य श्लोक,
तुमने गुरुकुल सी करी सृष्टि।।

गुरुकुल का नाम सुना जिसने, आकर्षित वह हो जाता था।
गुरुकुल में आने को उसका, मन सदा तड़पता रहता था।।

महात्मा गांधी, राजेन्द्र, 'अणे' आये यहां भारत के नेता।
था कौन नहीं यहां पर ऐसा, जिसका दिल 'कुल' ने नहीं जीता।।

अंग्रेजी-शासन-सत्ता भी, चिन्तित थी गुरुकुल-शिक्षा' से।
'अनुदान' नहीं लेता फिर भी, चल रहा 'दान' की 'भिक्षा' से।।

इसलिए एक दिन दिल्ली में, 'वायसराय' उन्हें बुलवाते हैं।
स्वामी जी उनसे बोले यों, हम वेदों की शिक्षा देते हैं।।

पर अंग्रेजी शासन सत्ता को, यहां गंध बगावत की आयी।
इसलिए निरीक्षण करने फिर, एक 'टीम' यहां पर भिजवायी।।

गुरुकुल की बातें देख-देख, वें 'अभिभूत' हो जाते हैं।
अपनी रिपोर्ट मे गुरुकुल को, एक 'साधना-स्थल बतलाते हैं।।

जिन विस्फोटों की चर्चा वें, अपनी रिपोर्ट में कर न सके।
गुरुकुल में निर्मित 'क्रान्तिबम', ब्रह्मचारी उनको दिख न सके।।

चेम्सफोर्ड, आए गुरुकुल, अभिनन्दन उनका होता है।
अपनत्व भावना देख-रेख, दिल उनका गद-गद होता है।।

गुरुकुल के आंतरिक शासन में, 'परिवार-भावना' पलती थी।
सुख-दुःख तो सबका साझा था, नहीं द्वेष-भावना पलती थी।।

सब 'जीवन-यापन' की वस्तु, गुरुकुल उपलब्ध कराता था।
गुरुकुल का पैसा गुरुकुल में, अपना ही 'चक्र' चलाता था।।

देकर गुरुकुल का भार सभी,
निज 'धर्मपुत्र के हाथों में।
'बर्मा' की यात्रा करते हैं,
'धनहेतु, गुरुकुल कार्यों में।।

फिर 'रामदेव जी' गुरुकुल का, सब भार ग्रहण कर लेते हैं।
'आचार्य' बनकर गुरुकुल के, संरक्षण इसका करते हैं।।

'गंगा के पार' बसा गुरुकुल, क्या अपनी गुरुता रखता था।
था चमन बना बीहड़ जंगल, जन-जन को सुरभित करता था।।

अच्छा ही अच्छा था गुरुकुल, नहीं लेश बुराई दिखती थी।
'उत्सव' पर भारत की जनता, 'दर्शन हित' सदा उमड़ती थी।।

दुनियादारी से दूर बसे, ब्रह्मचारी अजब-अनोखे थे।
ब्रह्म-बल में बढ़चढ़ कर वें तो, तन-बल में अजब अनोखे थे।।

कोई 'कार' रोकर भुजबल से, 'ब्रह्म-बल' का रूप दिखाते थे।
वे 'सत्यपाल' 'महेन्द्र' निडर, चीतों से भी भिड़ जाते थे।।

जंजीर तोड़कर, छाती पर, 'भारी पत्थर' कुटवाते थे।
लाठी-भाले, तलवार चला, 'तन-बल' के खेल दिखाते थे।।

उनकी बातों को देख-रेख, 'दर्शक' खुशियाँ में भरते थे।
वे नाम कमा कर गुरुकुल का, 'यश' द्विगुणित इसका करते थे।।

संस्कृत, अंग्रेजी हिन्दी की, 'त्रिवैणी' कुल में बहती थी।
अद्‌भुत, अद्‌भुत वह गुरुकुल था, यहां दिव्य-भावना रमती थी।।

एक रोज विकट संकट आया,
गंगा में 'भीषण-तरंग' उठी।
सन् २४ का वह दुर्दिन था,
'कुलभूमि' जल से पूर हुई।।

कच्चे झोंपड़ बह गए सभी, कुछ भवन-दीवारें टूट गयी।
आचार्यराम के माथे पर, चिन्ता-चिन्तन की रेख पड़ी।।

उस भव्य-भारती-मन्दिर के, अवशेष आज भी बोल रहे।
थे कभी हमारे दिन स्वर्णिम, कुछ खंडहर अब भी सोच रहे।।

फिर 'वर्तमान इस गुरुकुल' का,
'शाहपुराधीश' ने न्यास किया।
'श्री रामदेव' ने दान-मांग
इसका फिर से उद्धार किया।।

यों उजड़े गुरुकुल में फिर से, एक नूतन जीवन आया था।
ईश्वर की महिमा अदभुत है, फिर से यह पुष्प खिलाया था।।

'कुलपिता' देखकर गुरुकुल को, मन ही मन खुशी मनाते हैं।
'दिल्ली' को 'कार्य-क्षेत्र' बना, सोता यह देश जगाते हैं।।

स्वामी जी सामाजिक कार्यों में, फिर अपना समय लगाते हैं।
अच्छूतों के उद्धारक बनकर, 'शुद्धि' का बिगुल बजाते हैं।।

'गांधी जी' का सहयोग किया, सत्याग्रहों में भी भाग लिया।
'मियाँवाली, जेल में बन्द रहे, हिन्दुओं का भी उद्धार किया।।

उपकार-भावना जीवन में, जिसको बेचैन किया करती।
वह सुख से कभी न सोता है, एक लगन उसे प्रेरित करती।।

'बेताज बादशाह' दिल्ली के, स्वामी जी तब कहलाते थे।
उनके विचार सुनने को सब, आकुल-व्याकुल से रहते थे।।

वह 'तांगेवाला' धन्य-भाग, जो स्वामी जी को लाया था।
मुस्लिम जनता ने जय-जय से, धरती-आकाश गुंजाया था।।

'जामा-मस्जिद' के मिम्बर से, 'विश्वानि देव..' की गूंज हुई।
सुनकर वह अनुपम वाणी वहां, जनता भी भाव-विभोर हुई।।

भारत की नहीं, विश्व की भी, यह एक 'अनोखी घटना' है।
'कट्टर-मजहबी' इस्लाम कहां, कभी अन्य धर्म को गिनता है।।

पर भावनायें मानव को वहाँ, पहुँचा देती है क्षण भर में।
जहाँ केवल मानव, मानव है, नहीं होता कोई फिर मन में।।

पर भेद-भाव की नीति पर, 'अंग्रेजी-शासन' चलता था।
भारत की जनता एक न हो, यह उनका मकसद रहता था।।

'ब्रिटिश-सत्ता की आँखों में, स्वामी जी खटका करते थे।
'हिन्दू-मूस्लिम' सब एक बने, वें यही प्रचारा करते थे।।

'श्रद्धानन्द-स्वामी' की जय-जय, सब ओर सुनाई पड़ती थी।
उनके बस एक ईशारे पर, लाखों की भीड़ उमड़ती थी।।

'रोलेट-एक्ट' का था विरोध, भारत-माता हुंकार उठी।
जन-जन में था आक्रोश-रोष, स्वाधीन-भावना' जाग उठी।।

'श्रद्धानन्द-स्वामी' जनता को, निजभाषण से झकझोर रहे।
उस 'गर्म हवा पर थोड़ी सी, 'शान्ति फुहार' थे छोड़ रहे।।

फिर 'रानी-बाग' से चली वीर-सत्याग्रहियों की टोली थी।
आगे-आगे स्वामी जी थे, पीछे सहस्रों की टोली थी।।

वह 'चान्दनी चौक' वह घन्टाघर, अब तक साक्षी है बना हुआ।
उस वीर अमर बलिदानी का, साहस वहां अद्भुत प्रकट हुआ।।

चलते-चलते रूक गये सभी, आगे 'संगीने' तनी खड़ी।
स्वामी जी थे निर्भीक सिंह, किरचों के आगे देह अड़ी।।

बोले स्वामी जी किसने यहां, लोगों पर 'फायर' किया अरे।
यदि हिम्मत है मैं खड़ा यहाँ, मुझ पर फायर तुम करो अरे।।

यह घटना जब घट रही वहाँ, एक 'अफसर' घोड़े पर आया।
स्वामी जी का यह रूप देख, मन ही मन था वह घबराया।।

वह बोला- 'फायर गलत हुआ', पीछे 'पलटन' को हटा दिया।
जयघोषों से पट गयागगन, जनता ने फिर प्रयाण किया।।

यह पाँच मिनट, की घटना बस, जीवन की अद्भुत घटना है।
जग में कुछ करने वालों को, पड़ता जीवन में तपना है।।

श्रद्धानन्द स्वामी की गाथा
क्या अजब, अमोल, अनूठी है।
गिरने वालों उठकर देखो,
'हीरे' से 'जड़ी' अंगूठी है।।

स्वामी जी इतने व्यस्त हुए, सुध-बुध तन की भी भूल गए।
सन्यासी-धर्म निभाने को, मोह-ममता से भी दूर हुए।।

कभी 'काशी' में, कभी 'पूना' में हिन्दु महासंघ बनाते हैं।
कभी 'दिल्ली' में कभी 'आगरा' में, शुद्धि की धूम मचाते हैं।।

फिर 'कालीकट' में पहुँच गए, 'मद्रास' यात्रा कर डाली।
'गोखले-हॉल' में भाषण की, अद्‌भुत वह झड़ी लगा डाली।।

मथुरा में जाकर 'ऋषिवर' की वे जन्मशती मनवाते हैं।
पंजाब प्रान्त में जा पहुंचे, 'आर्यों' को पुनः जगाते हैं।।

'गुजरात राज्य' नवसारी में, ऋषिवर की शती मनाते हैं।
'भागलपुर' बिहार में हिन्दी की, महिमा सबको समझाते हैं।।

कभी 'बेलगाँव' में गांधी जी, उनको सादर बुलवाते हैं।
कभी 'उत्तर में, कभी 'दक्षिण' में, निज धर्म-ध्वजा फहराते हैं।।

फिर बने 'शुद्धि' के सूत्रधार।
जनता के तुम थे हृदयहार।
करके 'मलकाने' शुद्ध-पूत,
लाये शद्धि का प्रबल-ज्वार।।

फिर ग्राम-ग्राम और नगर-नगर, शुद्धि का डंका बजता है।
यह 'ग्राम' हिन्दू बन गयाअरे! दूजा तैयारी करता है।।

शुद्धि-आन्दोलन के कारण, कितने ही उनसे रूष्ट हुए।
'महात्मा गांधी' स्वामी जी से, अन्तर्मन में नाराज हुए।।

पर रोके ना रूक पाती है, अग्नि-पानी की ज्वालायें।
जग में कुछ का कुछ कर देती, मानव की उद्दीप्त भावनायें।।

'शुद्धि' का यह था प्रचण्ड ज्वाल, वह रोके ना रूक पाया है।
जो बिछुड़ गए थे अपनों से, उनको अपना बनवाया है।।

शुद्धि का यह था 'महासमगर', 'विजय-अभियान' चलाया था।
'असगरी बेगम' को शुद्ध किया, 'शान्ति' यह नाम रखाया था।।

कट्टर इस्लामी मुल्ला तो, यह सहन नहीं कर पाते हैं।
'जामा मस्जिद' के 'श्रद्धानन्द', शैतान नजर अब आते हैं।।

धमकी पर धमकी भरे पत्र, स्वामी जी प्रतिदिन पाते हैं।
पर वीर-पुरुष, समरांगण से, पीछे कब पैर हटाते हैं।।

भारत के स्वर्णिम पृष्ठों पर, फिर रक्तिम छींटे पड़ते हैं।
श्रद्धानन्द स्वामी निज खूं से, इतिहास नया ही रचते हैं।।

सर्दी हो चाहे गर्मी हो, वे उसे झेलते जाते थे।
'सत्तर' की आयु पार हुई, फिर भी विश्राम न लेते थे।।

वे 'इन्द्रप्रस्थ' की यात्रा में, थक गए सख्त बीमार हुए।
'ज्वर-शीत' चढ़ा तन पर ऐसा, 'स्नेही जन अति उदास हुए।।

स्वामी जी रोगी-शैय्या पर, विश्राम कक्ष में करते थे।
'डा० अन्सारी' देख-रेख, पूरे तन-मन से करते थे।।

तब एक छली, कपटी, मदान्ध, उनसे मिलने को आता है।
पानी पीने के छल से वह, सेवक को दूर हटाता है।।

'पिस्तौल' निकाला कायर ने, 'फायर' भी फिर कर डाले हैं।
'बलिदान' धर्म-हित हुए 'पिता', प्रभु के सब काम निराले हैं।।

'बलिदान' भवन की दीवारें, चित्कार उठी, दुत्कार उठी।
उस 'अब्दुल रशीद' कसाई को, भारतमाता धिक्कार उठी।।

तेईस तारीख सन् छब्बीस का, वह दुर्दिन साल गया सबको।
'कुलवासी' आकुल-व्याकुल थे, 'ब्रह्मचारी 'पिता' कहें किसको।।

ओ, बुझदिल कायर, हत्यारे,
धिक्कार तुझे, लानत तुझको।
ओ मानवता के महाकलंक,
'दोजख' भी नसीब न हो तुझको।।

फिर भगते-भगते कायर को, जब 'धर्म सिंह' ने पकड़ा है।
गोली 'सेवक' को भी मारी, फिर 'पण्डित जी' ने पकड़ा है।।

थे बलिष्ठ 'धर्मपाल'[1] जी तन से, अब्दुल रशीद को रगड़ा है।
फिर आयी पुलिस खबर पाकर, उस दुष्ट क्रूर को जकड़ा है।।

---

(१) पं० धर्मपाल जी विद्यालंकार भू.पू.स. मुख्याधिष्ठाता

अस्ताचल पर आसीन 'रवि'
सब दृश्य देखते जाते थे।
लाखों लोगों की आँखों में
उस दिन आँसू ही आँसू थे।।

रंग लाल-लाल था चहुं ओर, हत्यारा खेल गया होली।
श्रद्धानन्द स्वामी अमर रहें, जन-जन की टोली थी बोली।।

थे धर्मवीर, थे 'अमरवीर'
थे कर्मवीर, थे 'धीर-वीर'।
श्रद्धानन्द स्वामी सचमुच ही
थे निर्मल गंगा से पवित्र 'नीर'।।

उत्थान-पतन, जीना-मरना, जीवन के साथ लगे रहते।
कभी खुशियों के मेले यहाँ पर, कभी आँसू बन पीड़ा कह देते।।

उस वीर अमर-बलिदानी के 'गुरुकुल' का भी उत्थान हुआ।
'सौ वर्षों' का इतिहास अमर, जग में इसका सम्मान हुआ।।

स्वामी जी ने जो पौधा, अन्तर्भावों से रौंपा था।
'झंझावातों', से बचा इसे, 'श्री रामदेव' ने सींचा था।।

'श्री इन्द्र', 'विशम्भर नाथ' इसे, अपना संरक्षण देते हैं।
कभी नन्दलाल जी, सहायक बन प्रबन्ध कुशलता लाते हैं।।

श्री अमरनाथ सप्रूजी तो मन-धन दोनों ही देते हैं।
इस तरह अनेकों लोग यहां, निज जीवन अर्पित करते हैं।।

'बिरला जी' जैसे 'दानवीर', यहाँ 'मन्दिर वेद' बनाते हैं।
'श्री दीवानचन्द' व 'लब्भुराम' गुरुकुल हितदान जुटाते हैं।।

फिर अभयदेव जी, सत्यव्रत जी, सेवा वर्षों तक करते हैं।
श्री धर्मपाल जी निज मन से, इसका संरक्षण करते हैं।।

'प्रिय व्रत' पालित यह गुरुकुल तो, स्वर्णिम आभा प्रकटाता था।
था स्वर्ग तुल्य गुरुकुल जीवन, आने वाला सुख पाता था।

श्री विश्वनाथ, सत्यपाल यहां, इसका वर्चस्व बढ़ाते थे।
श्री बागीश्वर श्री रामनाथ, सुखदेव देव-समभाते थे।।

'श्री गोवर्द्धन बलभद्र' पुनः, वेदों की ध्वनि गुजाते हैं
'रघुवीर शास्त्री' शिक्षाविद् एक नयी प्रेरणा लाते हैं।।

उस ऊथल-पुथल के युग में भी, गुरुकुल नहीं डावाँ-डोल हुआ।
कभी 'महेन्द्र प्रताप, कभी गंगाराम, 'अग्नि' व 'इन्द्र' का जोर हुआ।।

फिर 'सत्यकाम', सत्यकेतु जी, इसका संरक्षण करते हैं।
श्री सूर्यदेव श्री महाविर सिंह, कुलाधिपति, विजिटर बनते हैं।।

दुर्दिन भी आते हैं जग में,
सुख दिन भी धूम मचा जाते।
संस्था के जीवन में भी तो
उत्थान-पतन आते-जाते।।

है समय-समय की बातें सब, यह समय बड़ा कातिल होता।
कभी हंसता है मानव-मन तो, कभी किसी बात से है रोता।।

अब नूतन युग के साथ-साथ, परिवर्द्धन गुरुकुल में आया।
'श्री धर्मपाल' कुलपति यहां, कर रहे पलट इसकी काया।।

संस्थान खोल कर नये-नये, वे इसका रूप निखार रहे।
श्रद्धा-नत हो, श्रद्धानन्द की, कुलवासी जय उच्चार रहे।।

आओ, श्रद्धा के अमर पुजारी के, जीवन की यह झांकी पढ़ लें।
यह गुरुकुल उनका स्मृति-चिन्ह आओ, इसका अभिनन्दन कर लें।

वे देश रत्न, वे राष्ट्र-रत्न,
उनका जीवन अद्भूत ललाम।
भारत के स्वर्णिम पृष्ठों पर
अंकित 'श्रद्धा' का अमर नाम।।

(स्वामी श्रद्धानन्द
की अमर कहानी के अंश)

हिंदी का पुट देकर पत्रकारिता को नई दिशा दी थी स्वामी श्रद्धानन्द ने

प्रो० विष्णुदत्त राकेश

आधुनिक भारत के शैक्षिक तथा राजनैतिक परिदृश्य के निर्माण में अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानंद सरस्वती की अहम भूमिका रही है। हरिद्वार की इस पावन धरती से ही आर्य जगत् की यह विभूति स्वतंत्र भारत की मान्य हस्ती बनी। स्वामी श्रद्धानन्द ने गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना कर भारतीय शिक्षा प्रणाली को उद्‌घाटित किया।

२३ दिसंबर १९२६ को अंग्रेजी सरकार की कूटनीति के तहत एक धर्मान्ध व्यक्ति ने उन्हें गोलियों से छलनी कर डाला। उनके बलिदान ने महात्मा गांधी, जवाहर लाल नेहरु, सरदार वल्लभ भाई पटेल, पं० मदन मोहन मानवीय, मौलाना मोहम्मद अली को भीतर तक हिला दिया। भारतीय स्वतंत्रता का इतिहास सदैव स्वामी श्रद्धानन्द का ऋणी रहेगा। उनके गुरुकुल से निकल कर कितने रणबाकुरों ने राष्ट्र की वेदी पर जीवन होम किया। श्रद्धानंद के गुरुकुल को उस समय स्वातंत्र्य वीरों की कर्म भूमि कहा जाता था।

हिंदी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार तथा गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के हिंदी आचार्य डॉ० विष्णुदत्त राकेश की स्वामी श्रद्धानंद पर एक पुस्तक साहित्य अकादमी दिल्ली से प्रकाशित हो चुकी है। प्रस्तुत है स्वामी श्रद्धानन्द के बारे में कुछ अछूते विषयों पर डॉ० राकेश से लंबी वार्ता के महत्वपूर्ण अंश-

स्वामी श्रद्धानन्द धर्म और शिक्षा के सुधार के लिए कार्यरत रहे किंतु राजनीति के क्षेत्र में उनका पदार्पण क्यों हुआ ? इस पर उन्होंने कहा कि यह ठीक है कि स्वामी जी मूलतः आर्य समाज के नेता थे। १८८४ में सत्यार्थ प्रकाश से प्रभावित होकर धार्मिक रुढ़िवाद के विरुद्ध आर्य समाज के सभासद बने थे पर १८८८ में कांग्रेस के इलाहाबाद अधिवेशन में स्वामी जी ने भाग लिया और नेशनल पोलिटिकल कांग्रेस के साथ जुड़कर पंजाब में राष्ट्रीय विचारों का प्रचार-प्रसार करने लगे। उन्होंने कांग्रेस के लक्ष्य पर ट्रिब्यून में लेख भी लिखा। इसके तुरंत बाद उन्होंने १६ फरवरी १८८६ को उर्दू में **सद्‌धर्म प्रचारक** नामक साप्ताहिक भी निकाला।

स्वामी जी ने पत्रकारिता के क्षेत्र में मार्गदर्शक कार्य किया है पर हिंदी में पत्र न

निकालकर उन्होंने पहले उर्दू में पत्र क्यों निकाला ? इस पर राकेश जी ने कहा कि स्वामी जी का कार्य क्षेत्र पंजाब था। पंजाब उर्दू का गढ़ था। आर्य समाज तथा राष्ट्रीय आंदोलन के विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए स्वामी जी को उर्दू में पत्र निकालना पड़ा। उर्दू पत्रकारिता पर अरबी-फारसी का रंग था पर स्वामी जी ने संस्कृत तथा हिंदी का पुट देकर उर्दू पत्रकारिता को नई दिशा दी। सद्धर्म प्रचारक के प्रारंभिक अंकों में धर्म, दर्शन, उच्च शिक्षा तथा राजनीति पर जो टिप्पणियां स्वामी जी ने लिखी हैं वह उर्दू को विषय तथा प्रस्तुत दोनों ही दृष्टियों से समर्थ बनाती हैं।

स्वामी जी की पत्रकारिता पर जैसा कार्य होना चाहिए था, अभी तक नहीं हुआ है। आप तो विश्वविद्यालय में हिंदी पत्रकारिता का अध्यापन भी कर रहे हैं, अतः आपको इस दिशा में कार्य कराना चाहिए, इस पर उन्होंने कहा कि स्वामी जी की पत्रकारिता पर उन्होंने तथा विष्णु प्रभाकर ने साहित्य अकादमी दिल्ली से प्रकाशित पुस्तक 'स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती' में विचार रखे हैं।

सत्यदेव विद्यालंकार द्वारा लिखित जीवनी 'स्वामी श्रद्धानन्द', इंद्र विद्या वाचस्पति द्वारा लिखित पुस्तक 'श्रद्धानंद' में स्वामी जी की पत्रकारिता पर प्रकाश डाला गया है। एक छात्र सुभाष चंद्र भाटी ने शोध प्रबंध लिखकर पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की है।

स्वामी जी ने हिंदी पत्रकारिता को क्या दिशा दी ? इस पर राकेश जी ने कहा कि, स्वामी जी ने उर्दू, हिंदी तथा अंग्रेजी में पत्र निकाले। १६०७ में माधवराज सप्रे के संपादन में जब तिलक जी के मराठी केसरी का हिंदी संस्करण निकला तब स्वामी जी ने उसी वर्ष सद्धर्म प्रचारक को उर्दू से हिंदी में निकालना शुरु किया। यद्यपि यह घाटे का सौदा था, पर राष्ट्रभाषा हिंदी की प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने यह चुनौती स्वीकार की। १६२० में स्वामी जी ने गुरुकुल से श्रद्धा नामक साप्ताहिक का प्रकाशन प्रारंभ किया तथा गुरुकुल के स्थिर कोष के निर्माण के लिए वर्मा की यात्रा की। १६२६ में उन्होंने अंग्रेजी में द लिबरेटर नामक साप्ताहिक निकाला। अस्पृश्यता उन्मूलन तथा अछूतोद्धार को राजनीतिक मंच से विशाल कार्यक्रम का रूप देने में उन्होंने पहल की थी। श्रद्धा और लिबरेटर विघटनकारी शक्तियों को जनता के बीच नंगा करने के लिए निकाले गए थे।

स्वामी जी और अछूत समस्या पर उन्होंने कहा कि अछूत समस्या का दोहन

सर्वप्रथम अंग्रेजों ने बांटो और राज्य करो की नीति को अमली जामा पहनाने के लिए किया था। फिर डॉ० अंबेडकर ने इस दिशा में कार्य किया पर वह आक्रोश और घृणा का वातावरण ही तैयार कर सके। बाद के राजनीतिज्ञों ने वोट की सत्ता के लिए अपने हित में उनका दोहन किया। आज देश इसी कारण एक विस्फोटक स्थिति में पहुंच गया है। यह दुर्भाग्य ही है कि इस दिशा में पहल करने वाले स्वामी जी के इस पक्ष को राजनीतिज्ञों ने सामने नहीं आने दिया।

१९२० में स्वामी जी ने ही नागपुर कांग्रेस में अछूतोद्धार पर प्रकाश डाला। १९२४ में 'हिंदू संगठन' नामक पुस्तक लिखकर उन्होंने हिंदुओं की प्रगति में अस्पृश्यता को बाधक तत्व सिद्ध किया। चमार, घेड़, डोम तथा मेघों के उद्धार के लिए उन्होंने पंजाब में सक्रिय आंदोलन चलाए। उन्होंने कहा मेरे लिए अस्पृश्यता के अभिशाप को उखाड़ फेंकना भारतीय राष्ट्रीयता की सुरक्षा के लिए आवश्यक शर्त है। १९१९ में अमृतसर कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष पद से बोलते हुए स्वामी जी ने दो ही ज्वलंत बिंदु, अस्पृश्यता निवारण तथा राष्ट्रीय शिक्षण विचारार्थ प्रस्तुत किए थे। गांधी जी ने इसलिए लिखा था- 'स्वामी जी ने अछूतों के लिए जो कुछ किया, उससे अधिक किसी और पुरुष ने भारत में नहीं किया। उनका अस्पृश्यों के प्रति गहरा प्रेम था।' गांधी जी के जेल जाने के बाद कांग्रेसी नेताओं ने इस कार्यक्रम को भुला दिया इससे रुष्ट होकर स्वामी जी ने सरदार पटेल को दो कड़े पत्र लिखे थे।

उन्होंने बताया कि १९११ में महात्मा मुंशीराम का परिचय दीनबंधु एन्ड्रूज से हुआ। दीनबन्धु प्रवासी भारतीयों के लिए व्याकुल रहते थे। दीनबंधु ने ही पंडित बनारसी दास चतुर्वेदी तथा पंडित तोताराम सनाढ्य को इस दिशा में कार्य करने के लिए प्रेरित किया। गांधी जी से महात्मा मुंशीराम का परिचय दीनबंधु ने ही कराया था। गांधी जी के दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह में गुरुकुल के ब्रह्मचारियों ने मजदूरी करके चंदा भेजा था। गांधी जी जब भारत आए तो उनके फोनिक्स आश्रम के विद्यार्थी तब तक गुरुकुल में रहे, जब तक वर्धा में आश्रम नहीं बना। ८ अप्रैल १९१५ को गंगाप्रार गुरुकुल में गांधी जी पधारे। मुंशीराम जी ने वहां आयोजित समारोह में उन्हें मिस्टर गांधी न कहकर महात्मा गांधी कहकर संबोधित किया और और तब से मिस्टर गांधी को पूरे देश ने महात्मा गांधी कहना शुरु कर दिया।

गुरुकुल की स्थापना तथा शुद्धि आंदोलन को लेकर उन्हें अपने समकालीनों के बीच काफी विरोध झेलना पड़ा। ऐसा क्यों हुआ ? इस पर उन्होंने कहा कि गुरुकुल पारंपरिक उर्दू, संस्कृत तथा अंग्रेजी शिक्षण संस्थाओं से भिन्न शिक्षण संस्था थी। समान वस्त्र, समान भोजन, समान आवास तथा समान शिक्षा का प्राचीन आदर्श लेकर उन्होंने राष्ट्रवादी, चरित्रवान् तथा देशोपयोगी छात्रों के निर्माण के लिए यह प्रयोग किया था फिर कट्टरपंथियों के विपरीत यहां वेद वेदांग के पठन-पाठन का अधिकार बिना किसी जाति-पांति के भेदभाव के सबके लिए सुरक्षित था, अतः विरोध होना स्वाभाविक था।

एक ओर उन्हें अपने अंदर से विरोध झेलना पड़ा और दूसरी ओर अंग्रेज सरकार गुरुकुल को राजद्रोह का केंद्र मानकर शंका और संदेह से देखती रही। शुद्धि आंदोलन भी इस्लाम और ईसाई मत के बढ़ते प्रभाव को रोकने के लिए था। लिबरेटर में उन्होंने शुद्धि का पक्ष अत्यन्त तर्कपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया। १६२३ में आगरा में उन्होंने शुद्धि सभा की स्थापना की फिर काशी के महासम्मेलन में भाग लेकर देशव्यापी कार्य शुरु किया। कालीकट में दलित जातियों के आंदोलन का नेतृत्व किया तथा १६२५ में दक्षिण भारत की धर्मयात्रा संपन्न की।

अंग्रेज सरकार को यह सब अच्छा न लगा और एक कट्टर धर्मांध व्यक्ति ने किसी कूटनीति के तहत २३ दिसंबर १६२६ को उन्हें गोली मार दी। एक सन्यासी भारतमाता की बलिवेदी पर शहीद हो गया। उनका असीम साहस, निर्भीकता राष्ट्र प्रेम तथा स्वाधीनता का जज्बा अनुकरणीय था। स्वामी जी ने बलिदान से देश का नया इतिहास लिखा।

(प्रस्तुति - कौशल सिखौला)

(२३ दिसम्बर, ६७ के अमर उजाला से साभार)।

हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द : बहुमुखी प्रतिभा के धनी

डॉ रामेश्वर दयाल गुप्ता पी-एच.डी.
आर्य नगर, ज्वालापुर

प्रायः स्वामी जी की चर्चा पढ़कर उनकी एक ही प्रतिभा उजागर की जाती रही है, और वो है उनके द्वारा आर्ष शिक्षा प्रणाली को जागृत करने हेतु गुरुकुल कांगड़ी आदि की स्थापना और संचालन। निःसन्देह यह एक बात ही उन्हें सदा-सदा के लिए अमर रखने को पर्याप्त है पर देश के सामाजिक और राजनैतिक उत्थान की कहानी स्वामी जी महाराज के इन दो दिशाओं में किये गये प्रयत्नों के अभाव में अधूरी है। इनका संक्षिप्त परिचय यूँ है :-

(१). गांधी जी ने जब दक्षिण अफ्रीकी भारतीयों के विरुद्ध वहां की गोरी सरकार के अत्याचारों के विरोध स्वरूप संघर्ष छेड़ा तो स्वामी जी ने गुरुकुल के अध्यापकों तथा छात्रों के एक सप्ताह के भोजन भर के दाम उनके पास सत्याग्रह निधि हेतु भेजें। जब गांधी जी ने भारत आकर यहां की राजनीति में प्रवेश किया तो सबसे पहले गुरुकुल में आये और धन्यवाद दिया। तभी महात्मा मुंशीराम (अर्थात् स्वामी श्रद्धानन्द) ने उन्हें महात्मा कह कर सम्बोधित किया। एक महात्मा ने दूसरे महात्मा को जन्म दिया। यह दूसरी बात है कि एक मुसलमान द्वारा और दूसरा हिन्दु द्वारा मारा गया। इसी की खोज हेतु दोनों महात्माओं के दृष्टिकोण को देखना होगा।

(२.) सन् १९२१ में देश में पहला हिन्दु मुस्लिम समझौता हुआ क्योंकि गांधी जी ने उस समय के मुसलमानों की इस मांग हेतु आन्दोलन करना मान लिया कि तुर्कों ने जो खलीफा की संस्था खत्म कर दी है उसे पुनः वापिस लाने के लिए अंग्रेज सरकार तुर्की पर जोर डाले। महात्मा मुंशीराम भी इस आन्दोलन में शामिल हो गये। दिल्ली में हकीम अजमल खां उन्हें जामा मस्जिद में व्यख्यान देने ले गये। दुनियाँ के मुस्लिम इतिहास में यह पहला और अन्तिम उदाहरण था। जबकि एक गैर मुस्लिम ने इमाम के मैम्बर पर खड़े होकर भाषण दिया हो। और वह भी वेद मन्त्र पढ़ने के बाद। जो जुलूस दिल्ली में निकाला गया उसे रोकने को फौज खड़ी की गयी थी। जुलूस का नेतृत्व स्वामी जी कर रहे थे। टुकड़ी के कप्तान ने संगीन जुलूस पर चलाने का आदेश दे दिया। स्वामी जी ने छाती खोल दी और कहा कि पहले गोली मुझ पर चलाओ। तपाक से अंग्रेज अफसर घोड़ी पर चढ़ा। उधर आ गया और इस अद्भुत शौर्य को देखकर दंग रह गया और संगीने वापिस का उसने आर्डर दे दिया। यह घटना टाउन हाल के सामने की है। जहां कि चांदनी चौक में स्वामी जी की मूर्ति स्थापित है।

(३.) इस सम्मान की पूर्व पीठिका दो वर्ष पूर्व ढूंढी जा सकती है। सन् १६१८ में जलियाँ वाला बाग अमृतसर में जंनरल डायर ने कांग्रेस की जनसभा पर मशीनगनों से गोली चलवाकर ३७८ व्यक्तियों को मारा और १२०० लोगों को घायल किया था। विरोध स्वरूप सन् १६१६ में अमृतसर में ही कांग्रेसो का वार्षिक अधिवेशन आहूत किया गया। कोई डर के मारे प्रबन्ध करने को तैयार नहीं था। तब स्वामी जी ने अधिवेशन का बीड़ा उठाया। उन्हें ही स्वागताध्यक्ष बनाया गया। उन्होंने पहली बार कांग्रेस के महाधिवेशन में स्वागत भाषण हिन्दी में पढ़ा। वहीं पर अंग्रेजी राज्य के खिलाफ सत्याग्रह की डुगडुगी बजायी गयी थी।

(४.) प्रश्न यह है कि ऐसा गांधीवादी व्यक्ति हिन्दुवादी कैसे हो गया? इसे जानने हेतु हमें काकीनाड़ा में हुए कांग्रेस महाधिवेशन की ओर जाना होगा। उसके सभापति मौलाना मुहम्मद अली थे। रियासत रामपुर के एक कलवार वैश्य परिवार के मुसलमान हो जाने पर शायद वे चौथी पीढ़ी में थे, अपने अध्यक्षीय भाषण में मौलाना ने कहा कि देश के सात करोड़ अछूत मुसलमानों को दे दो। और तब तीस करोड़ की आबादी वाले इस देश में हिन्दु तथा मुसलमान बराबर हो जायेंगे और सच्ची हिन्दु मुस्लिम एकता स्थापित हो जायेगी। स्वामी जी ने खड़े होकर विरोध किया और वहां से उठकर चले आये।

(५.) और स्वामी जी ने इस अभागे देश में सबसे पहला अछूतोद्धार आन्दोलन प्रारम्भ किया। हिन्दुओं से अपील की कि अछूतों को न्याय दो वरना "ये गैरों के घर जायेंगे" सारे देश में और सारी आर्य सभाओं में अछूतोद्धार सभाएं बनीं। उनके एक शिष्य राज्यरत्न आत्माराम अमृतसरी ने जो उस समय बड़ौदा राज्य में शिक्षा निदेशक थे, राजकीय सहायता से अम्बेडकर को अमेरिका पढ़ने भेजा। फलस्वरूप अछूतों का मुसलमान बनना बंद हो गया यदि उन दिनों हिन्दुओं ने थोड़ी और उदारता दिखा दी होती तो इस दशाब्दी में यह समस्या नहीं होती।

(६.) अब प्रश्न रह गया उनका जो मुस्लिम राज्यकाल में बल के जोर से मुसलमान बनाये गये थे। स्वामी जी महाराज ने एक अद्भुत बात की। शताब्दियों से हिन्दु क्षेत्र का दरवाजा बन्द था। उसमें से निकलने का तो रास्ता था अन्दर आने का नहीं। उन्होंने मुसलमानों आदि के हिन्दु समुदाय में घुसने का दरवाजा खोल दिया। उसे शुद्धि आन्दोलन का नाम दिया आजकल हिन्दु संगठन उसे प्रत्यावर्तन कहते हैं। नव मुस्लिम (अर्ध मुस्लिम) धड़ाधड़ हिन्दु बनने लगे और असगरी बेगम को हिन्दु बनाने के कारण अब्दुल रसीद ने उन्हें गोली से मार दिया। यह भी दिल्ली में ही हुआ। गांधी जी ने शुद्धि आन्दोलन के खिलाफ लिखा। शुद्धि कार्य की गति धीमी पड़ गयी। यदि आन्दोलन चलता रहता तो १६४७ में पाकिस्तान नहीं बनता। ध्यान रहे कि १६४७ में बंगाल में मुसलमान ५२% तथा पंजाब में ५३% ही आबादी में थे। बीस वर्ष में ३% को हिन्दु बना लेना सम्भव था। क्योंकि उन पर धन-बल, जन-बल, शस्त्र-बल और शास्त्र बल सभी था। पर अब पछतावे क्या होत है जब चिड़ियां चुंग गयीं खेत। काश! उस समय महात्मा मुंशीराम की बात मान ली गई होती।

स्वामी श्रद्धानन्द

(डाक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुर, शान्तिनिकेतन)

हमारे देश में जो सत्य-व्रत के ग्रहण करने के अधिकारी हैं, एवं इस व्रत के लिये प्राण देकर जो पालन करने की शक्ति रखते हैं, उनकी संख्या बहुत ही कम होने के कारण हमारे देश की इतनी दुर्गति है। ऐसी अवस्था जहां पर है, वहां पर स्वामी श्रद्धानन्द से इतने बड़े वीर की इस प्रकार मृत्यु से कितनी हानि हुई होगी इसके वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। परन्तु इसके मध्य एक बात अवश्य है कि उनकी मृत्यु कितनी ही शोचनीय हुई हो, किन्तु इस मृत्यु ने उनके प्राण एवं उनके चरित्र को उतना ही महान् बना दिया है। बार-बार इतिहास में देखा जाता है कि जिन्होंने अपना सब कुछ देकर कल्याण-व्रत को ग्रहण किया है, अपमान और अपमृत्यु ने उनके ललाट पर जय-तिलक की तरह अपना स्थान जमाया है। महापुरुष आते हैं प्राण की मृत्यु के ऊपर जय करने के लिये, सत्य को जीवन की सामग्री बनाने के लिये। हमारे खाद्य द्रव्य में प्राण देने का जो उपकरण है, वह वायु में भी है, एवं वैज्ञानिक परीक्षागार में भी है। परन्तु जब तक वह उद्भिज प्राणी में जीव आकार नहीं धारण करता तब तक प्राण की पुष्टि नहीं होती। सत्य के सम्बन्ध में भी यही बात है। केवल वाक्यों के द्वारा आकर्षण कर उसे जीवन-गत करने की शक्ति कितनों में है? सत्य को जानते बहुत हैं, किन्तु उसको मानता वही है जो विशेष शक्तिमान् है। प्राणों की आहुति के द्वारा मान कर ही हम उस सत्य को सब मनुष्यों के लिये उपयोगी बना देते हैं। यह मानकर चलने की शक्ति ही एक सुन्दर वस्तु है। इस शक्ति की सम्पद् को जो समाज को अर्पित करते हैं उन्हीं के दान का महामूल्य है। सत्य के प्रति उसी निष्ठा का आदर्श श्रद्धानन्द इस दुर्बल देश को दे गये हैं। अपनी साधना-परिचय के उपयोगी जिस नाम को उन्होंने ग्रहण किया था वही सार्थक हुआ। सत्य की उन्होंने श्रद्धा की थी। इसी श्रद्धा के मध्य सृष्टि-शक्ति है। इसी शक्ति के द्वारा वे अपनी साधना को मूर्ति के रूप में सजीव कर गये हैं। इसी से उनकी मृत्यु भी प्रकाशमय हो उनकी श्रद्धा को उस भयहीन दोषहीन तथा क्रांतिहीन अमृतमय छवि को उज्वल कर प्रकाशित कराती है। सत्य के प्रति श्रद्धा के इस श्रद्धानन्द को उन के चरित्र के मध्य आज हम सार्थक आकार में देख रहे हैं। यह सार्थकता बाह्य फलस्वरूप नहीं है, अपितु निज की ही अकृत्रिम वास्तविकता में है।

विधाता जब दुःख को हमारे पास भेजता है तब वह अपने साथ एक प्रश्न लेकर आता है। वह हम से पूछता है कि तुम हम को किस भाव से ग्रहण करोगे? विपद् आवेगी

नहीं ऐसा नहीं हो सकता-संकट का समय उपस्थित होता है, उद्धार का कोई भी उपाय नहीं रहता, किन्तु जिस प्रकार विपद् का हम व्यवहार करते हैं इसी के ऊपर प्रश्न का सदुत्तर निर्भर है। किसी पाप के उपस्थित होने पर हम उससे डरें वा उसके सन्मुख अपना सिर झुकावें? अथवा उस पाप के विरुद्ध पाप ही को सन्मुखीन करें, मृत्यु के आघात दुःख के आघात के ऊपर रिपु की उन्मत्तता को जागृत करें? शिशु के आचरण में देखा जाता है कि जब वह गिरता है तब वह उल्टे जमीन ही को मारता है। वह जितना ही मारता है, फलस्वरूप उसको उलटा ही लगाती है। परन्तु यदि किसी वयस्क को ठोकर लगती है तो वह सोचता है कि वह किसी प्रकार दूर की जावे। परन्तु हम देखते हैं कि किसी समय बाहर के आकस्मिक आघात की चमक में मनुष्य भी शिशु की बुद्धि वाला हो जाता है। वह उस समय सोचता है कि धैर्य का अवलम्बन करना ही कापुरुषता है, क्रोध का प्रकाश करना ही पौरुष है। हम यह स्वीकार करते हैं कि आज दिन स्वभावतः ही क्रोध आवेगा, मानव धर्म तो बिल्कुल छोड़ा नहीं जा सकता। किन्तु यदि क्रोध से अभिभूत हों तो वह भी मानव-धर्म नहीं है। आग के लग जाने पर यदि सब कुछ भस्म हो जावें तो आग की रुद्रता लेकर आलोचना करना वृथा है। विपद सभी पर आती है, जिनके पास उसके प्रतिकार के उपाय नहीं है वे भी दोषी हैं।

भारत वर्ष के अधिवासियों के मुख्यतया दो भाग हैं- हिन्दू और मुसलमान। यदि हम यह समझें कि मुसलमानों को एक ताक में रख देश की सभी मंगल चेष्टाओं में सफल होंगे तो यह भी एक बहुत भारी भूल है। हमारे लिये सब से ज्यादा अमंगल और दुर्गति का विषय यह है कि मनुष्य मनुष्य के पास रहता है किन्तु उनके मध्य किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता। विदेशी राज्य में राजपुरुषों के साथ हमारा एक बाह्य योग-दल है, किन्तु आन्तरिक सम्बन्ध नहीं रहता। विदेशी राजत्व में यही हमारे लिये सब से अधिक पीड़ाजनक है।

इसी से आज हमें देखना होगा कि हमारे हिन्दू समाज में कहां कौन सा छिद्र है, कौन सा पाप है, अति निर्भय भाव से उस पर हमें आक्रमण करना होगा। इसी उद्देश्य को लेकर आज हिन्दू समाज को आवाहन करना होगा, कहना होगा हम पीड़ित हुए हैं हम लज्जित हुए हैं, बाहर के आघात से नहीं किन्तु अपने भीतर के पापों के फलस्वरूप। आओ, आज हम सब मिलकर उस पाप को दूर करें। परन्तु हमारे लिये यह बहुत सहज बात नहीं है क्योंकि हमारे भीतर बहुत प्राचीन अभ्यस्त भेद-बुद्धि भरी हुई है। बाहर बहुत पुरानी भेद की प्राचीर है। मुसलमानों ने जिस समय किसी उद्देश्य को लेकर मुसलमान समाज को आवाहन किया है, उन्हें कोई भी बाधा नहीं पड़ी। एक ईश्वर के नाम पर 'अल्लाह हो अकबर' कह कर उन्हें बुलाया है। फिर आज हम सब बुलावेंगे

हिन्दू आओ, तब कौन आवेंगे? हमारे मध्य कितने छोटे-छोटे सम्प्रदाय हैं, कितनी प्रादेशिकता है, उनको पार कर कौन आवेगा? कितनी आफतें पड़ीं परन्तु कभी भी तो हम एकत्रित नहीं हुए। बाहर से जब पहला वार मुहम्मद गौरी का हुआ था, तब भी तो उस आसन्न विपद् के दिन हिन्दू एकत्र नहीं हुए थे। इसके बाद मन्दिर के बाद मन्दिर लुटने लगे, देव मूर्तियें झूठी होने लगीं, तब वे अच्छी तरह लड़े हैं, मारे गये हैं, खण्ड-खण्ड होकर युद्ध करके मरे हैं, किन्तु एकत्र नहीं हुए। अलग-अलग थे, इसीलिये मारे गये। युग-युग में हमारे इसके प्रमाण हैं। हां, सिक्खों ने अवश्य एक समय इस बाधा को दूर किया था। परन्तु सिक्खों ने जिसके द्वारा इस बाधा को दूर किया वह सिक्ख धर्म था। पंजाब में सिक्ख धर्म के आवाहन करने पर जाट-प्रकृति सभी जातियां एक झण्डे के नीचे एकत्रित हो सकीं थी। एवं, वे ही धर्म की रक्षा करने के लिये खड़ी हो सकी थीं। शिवाजी ने भी एक समय धर्मराज्य की स्थापना की नींव डाली थी। उनकी जो असाधारण शक्ति थी उसी के द्वारा वे समस्त मराठों को एकत्र कर सके थे। इसी सम्मिलित शक्ति ने भारत वर्ष को अपनाकर छोड़ा था। घोड़े के साथ जब घुड़सवार का सामञ्जस्य रहता है तभी वह घोड़ा किसी भी तरह नहीं रुकता। शिवाजी का ऐसा ही सामञ्जस्य था। बाद में ऐसा सम्बन्ध नहीं रहा। पेशवाओं के मन में आचरण में भेद-बुद्धि का उदय हुआ, और इसी के फलस्वरूप उनका पतन भी हुआ। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि यह जो हमने भेद-बुद्धि के पाप को पाल रखा है, यह अत्यन्त भयंकर है। पाप का प्रधान आश्रय दुर्बल के मध्य है। अत एव यदि मुसलमान हमें मारते हैं और हम यदि उसे पड़े-पड़े सह रहे हैं, तो यह केवल सम्भव हुआ है हमारी दुर्बलता के कारण। हमारे लिये, एवं प्रतिवेशियों के लिये भी हमें अपनी दुर्बलता को दूर करना होगा। हम प्रतिवेशियों के निकट अपील करते हैं कि तुम इतने क्रूर मत बनो, अपनी उन्नति करो। नरहत्या के ऊपर किसी भी धर्म की भित्ति स्थापित नहीं की जा सकती। परन्तु यह अपील इसी दुर्बलता का रोना है। जिस प्रकार वायुमण्डल के घिर आने पर झड़ी आप ही आरम्भ हो जाती है, धर्म की दुहाई दे उसे कोई बाधा नहीं दे सकता, उसी प्रकार दुर्बलता के पाल रखने पर अत्याचार भी होने लगते हैं, उनमें कोई बाधा नहीं पहुंचा सकता। कुछ समय के लिये एक उपलक्ष्य को लेकर परस्पर में कृत्रिम बन्धुता हो सकती है, किन्तु चिरकाल के लिये नहीं हो सकती।

आज हमारे अनुताप का दिन है, आज अपराध का प्रायश्चित करना होगा। सत्यमय प्रायश्चित्त यदि हम करेंगे तभी शत्रु हमारा मित्र हो सकेगा, रुद्र हमारे प्रति प्रसन्न होंगे।

(अलंकार, वर्ष ३, अंक ६-१० से उद्धृत)

बलिदान दिवस पर-

"स्वामी श्रद्धानन्द"

प्रणेता-
सुशील कुमार त्यागी "अमित"
विद्याभास्कर, शास्त्री, एम.ए. (हिन्दी)
अध्यापक–गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर, हरिद्वार

कूट-कूट कर भरी हुई थी,
त्याग, तपस्या की शुचि खान।
प्राण देश-हित किये न्यौछावर,
आर्यजनों की बन पहचान।।

जग में शुद्धि-चक्र चलाया,
देश-विदेश-उपदेश दिया।
कीर्ति-किरण फैलायी जग में,
गुरुकुल का विस्तार किया।।

अभय दयानन्द के अनुयायी,
क्रान्तिकारि, बलिदानी वीर।
स्वामी श्रद्धानन्द बिना है,
आर्य जगत् के उर में पीर।।

धृतिवर श्रद्धानंद स्वामी ने,
सीने पै गोली खायी।
देकर निज बलिदान, सुयश की-
धवल पताका फहरायी।।

बहुत याद आते आर्यों को,
स्वामी श्रद्धानन्द महाराज।
देता हूँ "बलिदान-दिवस" पर
'अमित' स्वीय श्रद्धाँजलि आज।।

राष्ट्रभाषा हिन्दी और स्वामी श्रद्धानन्द

डॉ. वीनेश

एम.ए. (संस्कृत, हिन्दी), पी–एच.डी., गुरुकुल कांगड़ी

उन्नीसवीं सदी के देशभक्त मनीषियों ने इस तथ्य को भली-भांति समझ लिया था कि देश की स्वतंत्रता एवं एकता के लिए एक राष्ट्रभाषा का होना अत्यावश्यक है और वह हिन्दी ही हो सकती है अन्य कोई नहीं। इस सत्य को उन महानुभावों ने हृदय से स्वीकार किया जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं थी, इन महामानवों में महर्षि दयानन्द का नाम सर्वोपरि है, जिनकी मातृभाषा गुजराती थी और प्रिय भाषा संस्कृत थी। स्वामी श्रद्धानन्द की मातृभाषा भी हिन्दी नहीं थी। पर उनके नेतृत्त्व में और उनकी प्रेरणा से हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए गुरुकुल कांगड़ी ने जो कुछ किया वह इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित है।

स्वामी जी की प्रेरणा से ही आर्यसमाज ने सर्वप्रथम शिक्षा का माध्यम देशी भाषा होने की आवाज उठाई थी। इस दिशा में गुरुकुल कांगड़ी के माध्यम से अनेक क्रियात्मक परीक्षण किए गए। यहां के स्नातकों ने वैज्ञानिक विषयों पर हिन्दी में मौलिक ग्रन्थों का निर्माण किया। महात्मा मुंशीराम जी के आग्रह पर श्री महेश चरण सिन्हा और श्री गोवर्धन शास्त्री ने आज से ६० वर्ष पूर्व रसायन शास्त्र, वनस्पति शास्त्र, विद्युत् शास्त्र, भौतिकी और रसायन जैसे विषयों की पाठ्य पुस्तकें तैयार की थीं। विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में अनुवादों द्वारा हिन्दी साहित्य की समृद्धि करने वाले विद्वानों में गुरुकुल के उपाध्यायों एवं स्नातकों का नाम प्रथम पंक्ति में रहा है। स्वामी जी ने यह प्रमाणित करके कि किसी भी विषय में उच्च से उच्च शिक्षा हिन्दी के माध्यम से दी जा सकती है, सबको विस्मित कर दिया था। तत्कालीन कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग के प्रधान श्री सेडलर ने गुरुकुल की प्रशंसा करते हुए कहा था- "मातृभाषा द्वारा उच्च शिक्षा देने के परीक्षण में गुरुकुल को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है।"

गुरुकुल द्वारा हिन्दी की प्रतिष्ठा देखकर महात्मा गांधी ने महामना मदनमोहन मालवीय से कहा था "गंगा के किनारे हरिद्वार के जंगलों में गुरुकुल खोलकर जब स्वामी श्रद्धानन्द हिन्दी के माध्यम से उच्च शिक्षा दे सकते हैं तो वाराणसी में गंगा के किनारे बैठकर आप इन बच्चों को टेम्स का पानी क्यों पिला रहे हैं।"

हिन्दी साहित्य की आत्मकथा, जीवनी, यात्रावृत्तान्त आदि की विविध विधाओं के साथ-साथ गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय ने वन विहार की रोमांचक कथाएं हिन्दी में

लिखी हैं। हिन्दी पत्रकारिता और अनुसन्धान के क्षेत्र में गुरुकुल का प्रशंसनीय योगदान रहा है।

भारत वर्ष के विशुद्ध इतिहास के साथ वैदिक देवताओं और ऋषियों पर शोध परक लेखन का उत्कृष्ट कार्य गुरुकुल ने किया है। अनुसन्धान की तरह गुरुकुल के स्नातकों ने पत्रकारिता के क्षेत्र में अभूतपूर्व जागरुकता और विवेक बुद्धि का परिचय दिया है। आर्यसमाज के स्थापना काल से स्वामी दयानन्द की प्रेरणा से साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन का जो क्रम प्रारम्भ हुआ था, वह अन्ततः व्यापक राष्ट्रीय चेतना में परिवर्तित हो गया। इस सन्दर्भ में हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकार क्षेमचन्द्र सुमन ने कहा था-"आर्यसमाज के माध्यम से हिन्दी साहित्य और पत्रकारिता की जो सेवा हुई वह इतनी महत्त्वपूर्ण है कि उसके उल्लेख के बिना साहित्य और पत्रकारिता का इतिहास ही अधूरा रह जाता है।"

यदि महात्मा मुन्शीराम गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना न करते तो हिन्दी पत्रकारिता का जो रूप आज देश में प्रतिष्ठित है, वह दिखाई न देता। महात्मा मुन्शीराम ने 'सद्धर्म प्रचारक' नाम का एक साप्ताहिक उर्दू में निकाला था। इसका पहला अंक १९ फरवरी १८८९ को प्रकाशित हुआ था। अनेक वर्षों तक यह उर्दू में ही निकलता रहा पर एक दिन अचानक किसी ने उन पर व्यंग्य करते हुए कहा "स्वामी दयानन्द के शिष्य बनते हो और पत्रिका उर्दू में निकालते हो।"

इस व्यंग्य से महात्मा मुन्शीराम के अन्तर में हलचल हो गई और १ मार्च १९०७ से उन्होंने सद्धर्म प्रचारक की भाषा हिन्दी कर दी। पत्रिका पहले ही घाटे में चल रही थी। मित्रों ने बहुत समझाया कि हिन्दी की पत्रिका को कौन पढ़ेगा? पंजाब में तो हिन्दी केवल महिलाएं ही पढ़ती हैं। तब गर्जना करते हुए महात्माजी ने कहा था- 'देश की राष्ट्रभाषा हिन्दी है।' स्वामी दयानन्द जब गुजराती होते हुए हिन्दी में ग्रन्थ रचना कर सकते हैं तो उनके अनुयायी हम थोड़ा सा भी त्याग नहीं कर सकते। हमारे लिए तो हिन्दी का पढ़ना-पढ़ाना अनिवार्य है। और सचमुच इस निश्चय का सुखद परिणाम हुआ। केवल उस पत्र को पढ़ने के लिए बहुत से लोगों ने हिन्दी सीखी।

महात्मा जी स्वयं ही आदर्श स्थापित करके नहीं रह गये अपितु अपने दोनों पुत्रों को इस मार्ग का पथिक बनाया। उन्होंने सन् १९१८ में 'श्रद्धा' नाम से एक और साप्ताहिक निकाला था। कुछ दिन तक सद्धर्म प्रचारक दैनिक के रूप में भी निकलता रहा। उन्हीं की प्रेरणा से प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने न केवल दैनिक 'विजय' प्रकाशित

किया अपितु अर्जुन, नवराष्ट्र और जनसत्ता जैसे सशक्त साप्ताहिक और दैनिक पत्र प्रकाशित कर हिन्दी पत्रकारिता की जो सुदृढ़ आधारशिला रखी आज उसी पर हिन्दी पत्रकारिता का भव्य प्रसाद खड़ा है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति महात्मा मुन्शीराम की ऐसी भक्ति को देखकर ही हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने उन्हें भागलपुर के चौथे वार्षिक अधिवेशन का सन् १६१३ में अध्यक्ष मनोनीत किया था। अपने अध्यक्षीय भाषण में आपने हृदयस्पर्शी भाषा में कहा था-"पर भाषा में विचार उठने से जहां सभ्यता विदेशी होगी वहां राष्ट्र भी भारतीय न रहेगा। भाषा ही तो जातियों के जीवन का साधन होती है। बिना एक राष्ट्रभाषा के प्रचार के राष्ट्र संगठित होना वैसा ही दुष्कर है जैसे बिना जल के मीन का जीवन।"

उन्होंने उर्दू भाषी होते हुए भी अपनी आत्मकथा 'कल्याण मार्ग का पथिक' हिन्दी में लिखी। अपनी इस अमर आत्मकथा में उन्होंने अपनी जीवन गाथा का और उसमें आने वाले उतार चढ़ावों का जैसा स्पष्ट और सत्य चित्रण किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

इस प्रकार राष्ट्रभाषा हिन्दी के उन्नयन में स्वामी श्रद्धानन्द का, उनके यशस्वी पुत्र प्रो० इन्द्रजी का एवं गुरुकुल के स्नातकों एवं उपाध्यायों का नाम हिन्दी भाषा के इतिहास में सदा अमर रहेगा।

"इस कलियुग में मोक्ष की इच्छा नहीं रखता। मैं तो केवल इतना चाहता हूं कि चोला बदलकर दूसरा शरीर धारण करुं। इच्छा है कि फिर भारतवर्ष में उत्पन्न होकर देश की सेवा करुं"।

-स्वामी श्रद्धानन्द
(जन-ज्ञान, दिसम्बर 1995, पृ0 31)